महादेव गोविंद रानडे

(धार्मिक चितंन एवं समाज सुधार)

लेखक

श्री ना० वि० सप्रे

डॉ शैलेन्द्र प्रसाद पांथरी

महादेव गोविंद रानडे

प्रार्थना समाज के अग्रणी नेता रानडे ने अनुपयोगी हिन्दू परम्पराओं के विचार (विवेक) विहीन पुनरुत्थान का खण्डन किया किन्तु साथ ही (केशवचन्द्र सेन के ही समान) यह भी घोषित किया कि 'तब तक वास्तविक सुधार की कोई सम्भावना नहीं थी जब तक राष्ट्र का हृदय अथवा मानस, उपयोगिता के निरानन्द आकलनों द्वारा नहीं बल्कि धार्मिक पुनरुत्थान की शोधक अग्नि द्वारा, नवजीवन प्राप्त नहीं करता।'

अस्तु उन्होंने धर्म का, विशेषतः हिन्दू धर्म का, तात्विक विवेचन-विश्लेषण किया और उसे, अपनी अवयववादी विचारधारा के अन्तर्गत, समाज-सुधार से जोड़ा। आज धर्म को लेकर हमारे देश व समाज में जो उद्वेलन की, उहापोह की स्थिति है उसमें धर्म एवं समाज सम्बन्धी रानडे के विचारों की स्वतः स्पष्ट प्रासंगिकता एवं उपादेयता को रेखांकित करने का इस पुस्तक में प्रयास किया गया है।

महादेव गोविंद रानडे

(धार्मिक चिंतन एवं समाज सुधार)



लेखक

शैलेन्द्र प्रसाद पांथरी : श्री ना० वि० सप्रे

प्रकाशक :
अंजनी कुमार मिश्र
मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेशन
शाप नं० १२, ज्ञानमण्डल प्लाजा
मैदागिन, वाराणसी-२२१००१
दूरभाष- 2352431 (कार्यालय)
2431792 (निवास)

लेखक :
शैलेन्द्र प्रसाद पांथरी : ना० वि० सप्रे

ISBN : 81-87119-76-4

प्रथम संस्करण
महाशिवरात्रि (सन् २००३)

मूल्य : दो सौ रुपये मात्र

मुद्रक :
ज्योतिष प्रकाश प्रेस
कालभैरव मार्ग, वाराणसी-1
फोन नं० : 2331602
मोबाइल नं० : 9839140956

भूमिका

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के सर्वश्रेष्ठ उदारवादी[1] कहलाने वाले महादेव गोविन्द रानडे ने भारतीय उदारवाद का एक सम्यक् मॉडल प्रस्तुत किया और भारतीय उदारवादी आन्दोलन को दार्शनिक आधार प्रदान किया जो भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों और भारतीय तथा विश्वव्यापी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विकास सम्बन्धी बृहत् अध्ययन के फलस्वरूप अर्जित ज्ञान पर आधारित था। रानडे एक महान् पुरुष, कर्मठ देशभक्त, धर्म व समाज-सुधारक, चिन्तक, मानव-संरक्षक तथा योग्य इतिहासवेत्ता थे। भारत में "सार्वजनिक जीवन के जनक"[2] सर्वतोमुखी बौद्धिकता से परिपूर्ण[3] "स्वतंत्र भारत के अग्रदूत" (डी. कर्वे), "पश्चिमी भारत में आधुनिक पुनर्जागरण के जनक"[4] मान्य राजनीतिज्ञ, मौलिक अर्थशास्त्री, समाज-सुधार के दार्शनिक एवं व्यवस्थापक के साथ-साथ असाधारण सूझ-बूझ से सम्पन्न इतिहासकार[5] रानडे श्रद्धालु ईश्वरवादी, महान विद्वान् तथा उत्कृष्ट समाज-सुधारक थे जिनके जीवन के चरम लक्ष्य थे, देश सेवा, जनहितकारी कार्यों को प्रोत्साहन तथा भारतीय संस्कृति का पुनरून्नयन।[6] निःसंदेह रानडे एक "आधुनिक ऋषि" थे और उनकी मेधा विशद् तथा व्यापक थी। वे ऐसे "गुरु" थे जिन्होंने सामाजिक मुक्ति, आर्थिक प्रगति, सांस्कृतिक विकास तथा राष्ट्रीय एकता का उपदेश दिया।

---

१. आर.पी. वोरा, माडर्न इण्डियन पॉलिटिकल थाट, ड्यूश पैन्थम, पृ. ९२, ९३।
२. टी.पी. पर्वते, पूर्वोद्धृत, पृ. ३१०
३. जी.जे. जागीरदार, पूर्वोक्त, पृ. १४२-४३।
४. जकारिया, रेनेसेण्ट इण्डिया, पृ. ४५।
५. पी.जे. जागीरदार, पूर्वोक्त, पृ. २६२
६. वही, पृ. १४४।

गोपालकृष्ण गोखले के अनुसार, 'उन्होंने लगभग ३० वर्षों तक भारत के श्रेष्ठतम विचारों तथा प्रत्याशाओं का प्रतिनिधित्व किया।'[१]

डॉ. अम्बेडकर की सम्मति में रानडे न केवल अपने समय के मापदण्ड से अपितु किसी भी मापदण्ड से महान थे। उनका जीवन सामाजिक अन्याय एवं सामाजिक विकृतियों के विरुद्ध अनवरत संघर्ष का तथा समाज सुधार के पक्ष में अनवरत अथक प्रयास का द्योतक था। अधिकारविहीनों को अधिकार दिलाने, विकृत तथा अवरुद्ध हिन्दू समाज की चेतना को जगाने और सामाजिक लोकतंत्र के सृजन के लिए उन्होंने सतत संघर्ष किया।



१. जे.आर. काम्बले –राइज ऐण्ड अवेकनिंग आफ डिप्रेस्ड क्लासेज, पृ.४३।

उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्ध में भारत में सामाजिक जागरण की जो लहर फैली उसमें न्यायमूर्ती रानडे के कार्यों से भी चेतना प्राप्त हुई। इससे पूर्व बालशास्त्री जांभेकर, दादोबा पांडुरंग, लोकहितवादी आदि विचारकों ने लोकशिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। रानडे ने उनके स्फुट और प्रारंभिक स्वरूप के विचारों को संकलित कर एक व्यापक, सुसंबद्ध तत्त्वप्रणाली निश्चित की। राजनीति, अर्थव्यवस्था, सामाजिक-सुधार, साहित्य, शिक्षा, इतिहास, धर्म तत्वज्ञान आदि विषयों पर उन्होंने विचार प्रवर्त्तक विपुल लेखन किया जो अत्यंत विचार-प्रवर्त्तक था। विचारों को कार्यरूप में परिणित करने के लिये उन्होंने अपने सहयोगी युवकों को विभिन्न सार्वजनिक संस्थाओं में कार्य करने के लिये प्रेरित किया और समय-समय पर उनका समुचित मार्गदर्शन किया। यह नहीं कि वे विभिन्न क्षेत्रों में देश की उन्नति के प्रति उदासीन थे किन्तु उन्हें एक समाज-सुधारक के रूप में विशेष मान्यता मिली।

महाराष्ट्र में सामाजिक सुधारों के सन्दर्भ में पेशवाओं से सत्ता अंग्रेजों के हाथों में चले जाने के बाद स्थापित नयी शासन पद्धति, अंग्रेजी शिक्षा और ईसाई धर्मप्रचार (मिशनरियों के कार्यकलाप) की उल्लेखनीय भूमिका थी।

भारत के राजकाज की योजना बनाते समय ब्रिटिश शासकों में जो परस्पर विचार-विनिमय हुआ उसमें दो प्रमुख विचार धारायें थीं। अनेक अंग्रेज उदार मतावलंबियों की कल्पना थी कि भारत में अंग्रेज राज स्थापित हो जाने से उनके ऊपर एक ऐतिहासिक दायित्व आ पड़ा है। उनमें से अनेक लोग धार्मिक प्रवृत्ति के थे जो इस देश का पिछड़ापन समाप्त कर उसे प्रगति की राह पर ले जाने को व्याकुल थे। संयोग से यह जिम्मेदारी इंग्लैण्ड पर आ गयी है, ऐसी उनकी कल्पना थी। इसके लिये वे यहाँ ब्रिटिश राजनीति के तत्व लागू करने के पक्ष में थे। उनका विश्वास था कि अब तक राजाओं के अधीन रहने के कारण भारत का प्रशासन पूर्णरूप से राजघरानों की परम्पराओं एवं राजाओं की सनक पर आधारित था। साथ ही, भारत में रूढ़िवाद एवं धार्मिक प्रवृत्ति

का बोलबाला है जिसके कारण मानसिक जड़ता, अंध श्रद्धा और प्राचीन परम्पराओं का आधिपत्य है। प्राचीन विद्या, कला, तत्वज्ञान आदि की निर्माण क्षमता कब की समाप्त हो चुकी है, ऐसी मैकाले जैसे लोगों की कल्पना थी।

शिक्षा संबंधी नीति

प्रशासन को चुस्त-दुरुस्त करने के साथ-साथ शिक्षा में भी आमूल-चूल सुधार करने का ब्रिटिश शासकों का इरादा था। एल्फिन्स्टन जैसे कुशल प्रशासक का मत था कि शिक्षा का जन-साधारण में प्रचार-प्रसार, विशेष रूप से गरीबों की शिक्षा का प्रचार-प्रसार सरकार की जिम्मेदारी है। यूं तो सन् १८२३ में ही कम्पनी सरकार ने लोक शिक्षा समिति की स्थापना कर दी थी, किन्तु दस वर्ष के लम्बे अन्तराल के बाद भी यह समिति शिक्षाप्रचार का उद्देश्य, दिशा और नीति संबंधी कोई ठोस निर्णय नहीं ले पायी थी, अलबत्ता उसमें दरार पड़ गयी थी। एक खेमा संस्कृत, अरबी और फारसी तथा प्राच्यविद्या का हिमायती था तो दूसरा पक्ष शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी को बनाने तथा यूरोपीय शास्त्रों का तथा यूरोपीय संस्कृति के प्रसार का पक्षधर था। इन्हीं सब बातों पर विचार कर मेकॉले ने सन् १८३५ ई० में सरकार के पास प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसके आधार पर गवर्नर जनरल विलियम बेण्टिंक तथा उसकी कौन्सिल ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसके अनुसार, "यूरोपीय साहित्य और शास्त्रों का प्रसार, ब्रिटिश सरकार के शिक्षा-विभाग का मुख्य उद्देश्य है और शिक्षा के लिये स्वीकृत धन इसी मद में खर्च होना चाहिये।[१] इससे भारत में शिक्षा के इतिहास में एक नया युग प्रारंभ हुआ।

एल्फिन्स्टन व मास्कम शिक्षा के मुद्दे पर भी समन्वयवादी थे। मेकॉले का यहाँ की प्राच्य-विद्या के प्रति कोई आदर नहीं था लेकिन एल्फिन्स्टन-मास्कम को यहाँ की परम्पराएँ उतनी निरर्थक नहीं लगती थीं। बम्बई प्रान्त में शिक्षा प्रसार के लिये एल्फिन्स्टन ने सात सूत्रीय कार्यक्रम सुझाया था।

1. Education & Statesmanship in India Part-I Page 29 —H.R.James, (Second Edn.) Longmans Green & Co. 1917

उनमें से एक के अनुसार यहाँ ऐसे विद्यालयों को स्थापित करना था जहाँ यूरोपीय शास्त्र और उच्च स्तरीय विद्या में हो रहे विकास की शिक्षा दी जा सके। चूँकि यह सारा ज्ञान अंग्रेजी में ही उपलब्ध था अतः उसे जानने के लिये अंग्रेजी का ज्ञान होना आवश्यक था। ऐसे जिज्ञासुओं को अंग्रेजी का ज्ञान कराने के लिये अलग से विद्यालयों की स्थापना करना आवश्यक था। अंग्रेजी के साथ-साथ उन्होंने देशी भाषाओं के प्रचार-प्रसार पर भी जोर दिया। बम्बई राज्य की शिक्षा-नीति का निर्धारण करने में जिस निष्ठा और सामंजस्य का मेल बैठाया गया था, उससे महाराष्ट्र के सुधारवादी कार्यक्रमों पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा।

सामाजिक उत्क्रांति के लिये समाचार-पत्र एक अत्यन्त उपयोगी साधन रहे हैं। किसी विचार को कम से कम समय में अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाने में यह माध्यम महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। समाचार-पत्रों के गौरव पर प्रकाश डालते हुए लोकहितवादी ने लिखा था-"हमारी जिह्वा को लघुजिह्वा तथा समाचार-पत्रों को वृहत्तर जिह्वा समझना चाहिये।"[१] 'दर्पण', 'प्रभाकर', 'ज्ञानोदय', 'ज्ञानप्रकाश' आदि समाचार पत्रों ने सामाजिक सुधार के कार्य में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। चार्ल्स मेट्कॉफ ने समाचार पत्रों पर जनता की बात कहने की मनाही के लिये आरोपित प्रतिबंध दूर किया। इससे समाज पर समाचार पत्रों का व्यापक प्रभाव पड़ा और वे समाज-सुधार के साधन बने। किसी भी विचार को सर्वत्र प्रसारित कर उसे एक आन्दोलन का रूप देने का सामर्थ्य केवल समाचार-पत्रों में रहा है।

सन् १८१३ ई० में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने ईसाई मिशनरियों को धर्मप्रचार के लिये भारत में आने की छूट दे दी। इसके बाद वाप्टिस्ट मिशन, स्कॉटिश मिशन, अमेरिकन मिशन, लंडन मिशनरी सोसायटी आदि संस्थानों के धर्मोपदेशक बड़ी संख्या में यहाँ आने लगे। यद्यपि धार्मिक मामलों में ब्रिटिश

---

१. लोकहितवादी कृत निबंधसंग्रह पृ.१४ संपादक : अ.का.प्रियोळकर। (द्वितियावृत्ति), मुंबई १९४७

सरकार तटस्थ थी, फिर भी ईसाई मिशनरियों के प्रति उसके मन में सहानुभूति थी। उन्हें विश्वास था कि एक बार भारत के लोगों में ज्ञान का प्रचार होने पर उन्हें स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने की आदत पड़ जाय तो वे स्वयं ही ईसाई धर्म स्वीकार कर लेंगे। ईसाई धर्मोपदेशकों ने भारतीय जनता को केवल युक्तिवाद और बौद्धिकता की खूराक नहीं पिलायी अपितु लोकशिक्षा और जनसेवा के बल पर लोगों के दिल जीतने का भी प्रयास किया। व्यक्तिगत तौर पर परोपकार बुद्धि से आचरण करने वाले पुण्यवान पुरुष हमारे समाज में न हों ऐसी बात नहीं थी, लेकिन जनसेवा को ईश्वर सेवा मानकर उसे संगठित रूप में तथा योजनाबद्ध तरीके से कार्यरूप में परिणित करने की बात हमारे समाज के लिये नयी थी। ईसाई मिशनरी गरीबों की झोपड़ियों में पहुँचे, उनकी कठिनाइयों के बारे में सहानुभूति पूर्वक जानकारी प्राप्त की, उनके बच्चों में शिक्षा के प्रति चाह या लगाव उत्पन्न करने का प्रयास किया, बच्चों को पाठ्य-पुस्तकें मुफ्त में बाँटी। पारमार्थिक दृष्टि से ईसाई धर्म का प्रचार के साथ ही ऐहिक सुखसमृद्धि के लिए ईसाई धर्म के तत्वों के पालन की आवश्यकता सिद्ध करने के लिये उन्होंने हिन्दू धर्मश्रद्धा, तत्वज्ञान, आचार-विचार आदि के विरुद्ध जमकर प्रचार किया, साथ ही मूर्तिपूजा, पुनर्जन्म, जातिभेद, ब्राह्मणों के महत्व, पाप-पुण्य से संबंधित तीर्थयात्रा, उत्सवों के प्रति धार्मिक भोलेपन आदि की प्रखर आलोचना भी की। भारतीय परम्पराओं का सही ज्ञान न होने से उनकी आलोचनाओं में उथलापन अधिक था। लेकिन अनेक समाजसेवियों को उनके कार्यों से प्रेरणा मिली जैसे उन्होंने लड़कियों के लिये विद्यालय खोलवाये उनमें 'कनिष्ट' जातियों की लड़कियाँ अधिक थीं। ईसाई मिशनरियों की कार्यप्रणाली तथा उनकी अच्छी बातों का हमारे परम्परावादी समाज पर भी अच्छा-खासा प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपनी कमजोरियों पर ध्यान देना आरम्भ किया।

बड़ी संख्या में ईसाई मिशनरियों के आगमन, उनके भारतीय धर्मों (तथा सभ्यता-संस्कृति सामाजिक व्यवस्था आदि) के विरुद्ध दुष्प्रचार तथा उनके दुष्प्रभाव को देखकर सनातनपंथी लोगों को मिशनरियों के प्रचार, कार्यक्रम पर

अंकुश लगाने की आवश्यकता अनुभव हुई और सर्वश्री लक्ष्मणशास्त्री, मोरभट दांडेकर, नारायणराव (स्वदेश धर्माभिमानी), कृष्णशास्त्री साठे आदि महानुभावों ने इसमें पहल की। उन्होंने हिन्दू धर्म पर व्याख्यान दिये, ईसाई धर्मप्रचारक जॉन विल्सन से मौलिक मुद्दों पर बहस की। उन्होंने 'हिन्दू धर्म स्थापना' जैसी मौलिक पुस्तकें लिखीं जिससे लोगों को हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हो ताकि अकारण हिन्दू धर्म को दोष देनेवाले मिशनरियों की अनर्गल बातों का खंडन हो। इसी भावना से प्रेरित होकर मोरभट दांडेकर ने 'उपदेश चन्द्रिका' नामक मासिक पत्रिका शुरु की। तत्कालीन सनातनी पंडितों का विचार था कि वैदिक धर्म सनातन है। उसमें परिवर्तन करने की सोच को वे पाखंड का लक्षण मानते थे। उन्होंने ईसाई मिशनरियों का कसकर विरोध किया। लेकिन विश्वव्यापी परिवर्तन के दौर में स्वयं जड़-मूढ़ की तरह हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने का उनको कोई खेद नहीं था। लेकिन इन सनातनी पंडितों में सभी दुराग्रही नहीं थे। कुछ शास्त्री-पंडितों को मराठी ग्रंथलेखन के सिलसिले में अंग्रेज अफसरों के अधीन कार्य करने का अवसर प्राप्त होने के कारण अपने शासनकर्त्ताओं की प्रगतिशीलता तथा उदारवादी दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था और उनके मन में शास्त्र तथा व्यवहार के बीच समन्वय स्थापित करने की उत्कंठा जागृति हुई।

सुधारवाद के उदय की यही पृष्ठभूमि थी। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की पहली पीढ़ी प्रायः अर्धशिक्षित थी। उनकी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य निर्धारित पाठ्यक्रम पूरा कर सरकारी नौकरी प्राप्त करना ही था। लेकिन सरकारी नौकरी की अभिलाषा न कर समाज के उत्थान के लिये कुछ करने की ललक जिन युवकों में थी, उनमें बालशास्त्री जांभेकर, भाऊ महाजन, दादोबा पाण्डुरंग, राम बालकृष्ण आदि प्रमुख थे। उन्होंने आने वाले समय की पगध्वनि सुन ली थी। अपने समाज को विचार और व्यवहार की दृष्टि से किस प्रकार आधुनिक बनाया जाय इसपर उन्होंने गहन चिन्तन किया और उसके अनुसार भावी सामाजिक सुधार आन्दोलन की दिशा तय की। इसमें उपर्युक्त व्यक्तियों में से सबकी भूमिका एक जैसी नहीं थी। यद्यपि कहीं न कहीं परस्पर तालमेल तो था ही। किसी ने

धर्म की पताका ऊँची की तो किसी ने नैतिक उन्नति को सामाजिक सुधारों का अधिष्ठान बताया, किसी को स्त्री-दास्य विमोचन का कार्य अधिक आवश्यक लगा तो किसी ने दलितों के उद्धार को प्रमुखता दी। किसी ने औद्योगिक प्रगति को सामाजिक उन्नति का प्रमुख कारक माना। इन सारी प्रवृत्तियों को जानना रानडे जी के सामाजिक सुधार संबंधी तत्वज्ञान को समझने के लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। अंग्रेजी भाषा व शिक्षा के आने से मानों पश्चिम की ओर ज्ञान की एक खिड़की खुल गयी थी। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर जिन्होंने अपने ज्ञान का उपयोग सामाजिक हित के लिये किया उनमें बाळशास्त्री जांभेकर अग्रगण्य थे। उन्होंने अनुभव किया कि हमारी वर्तमान अवस्था का मूल कारण हमारा अज्ञान है। वर्षों से हम अपनी समस्याओं को साथ लेकर चल रहे हैं लेकिन उनसे निजात पाने का कोई उपाय नहीं ढूंढ पा रहे हैं। उन्होंने 'दर्पण' नामक समाचार-पत्र के माध्यम से 'स्त्री-शिक्षा', 'पुनर्विवाह' आदि समस्याओं को जनता के सामने रखा। साधारण जन उन दिनों पुरातन पंथियों के वश में थे। अपनी रूढ़ियों से वे इस कदर बंधे हुये थे कि टस से मस होने को तैयार नहीं थे। हर नयी वस्तु, हर नये विचार से वे प्रायः सशंकित रहा करते थे।

विष्णुबाबा ब्रह्मचारी भी वैदिक परम्परा पर गर्व करने वाले, अंग्रेजी भाषा में प्रवीण एक अग्रणी सुधारवादी थे। उन्होंने लेखन, भाषण, वाद-विवाद आदि के माध्यम से ईसाई मिशनरियों के धार्मिक प्रचार-प्रसार की धज्जियाँ उड़ानी शुरु कीं। आम जनता ऐसे धर्म-प्रचारों और प्रचारकों से परेशान थी लेकिन अपने जड़-मूढ़ स्वभाव और विरासत में मिले अज्ञान के कारण, उनका प्रतिकार करने में असमर्थ थी। विष्णुवुवा के मन में वैदिक धर्म के प्रति अमित आस्था थी। 'वैदिक धर्म ही एकमेव ईश्वर स्थापित धर्म है, अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ और परिपूर्ण है' और शास्त्र, पुराण तथा प्राकृत ग्रन्थों से जितना भी कुछ वेदार्थ के अनुसार है, वह सब ग्राह्य है, ऐसी उनकी मान्यता थी लेकिन शास्त्रार्थ निर्णय की प्राचीन पद्धति उन्हें मान्य नहीं थी। 'प्राचीन धर्मग्रन्थों का रहस्य समझने के लिये कोरा प्रज्ञाहीन पांडित्य उपयोगी नहीं है। ऐसी विद्वद्जड़ता

के कारण ही हमारे देश का वेदकालीन अत्युत्तम व्यवहार-सुधार, नीति और धर्मस्थिति का ह्रास हुआ है।' विष्णुबाबा की इस विचारधारा को ध्यान में रखने पर उनके वेद की प्रामाणिकता का अर्थबोध भली-भाँति होता है। 'मुझे परमेश्वर का पूर्ण साक्षात्कार हुआ है। आत्मविद्या से मेरी सूक्ष्मबुद्धि हो गयी है। मेरे लिये अन्य विद्यायें जानने में क्या कठिनाई है? ---मेरी बातें स्वयं के अनुभव तथा युक्ति और शास्त्र प्रमाण के साथ सिद्ध हैं।[१] विष्णुबाबा के विचार लोगों को ग्राह्य हों या न हों लेकिन कालातीत हुए धर्मग्रन्थों का रट्टा लगाने की अपेक्षा उस युग के द्रष्टा पुरुषों के अनुभव पर ध्यान देना समाज की प्रगति के लिये निश्चय ही पोषणकारी है।

धार्मिक सुधार और सामाजिक सुधार इन दोनों उद्देश्यों को ध्यान में रखकर मुंबई के कुछ पढ़े-लिखे लोगों ने सन् १८५० ई० में परमहंस सभा की स्थापना की। दादोबा पांडुरंग परमहंस सभा के प्रवक्ता और मार्गदर्शक थे। 'परमहंस' यह नाम अन्तर्मुख वृत्ति, विवेकशीलता और सारग्राहकता आदि गुणों का द्योतक है। दादोबा ने संस्था के सदस्यों के लिये 'धर्म विवेचन' और 'पारमहंसिक-ब्राह्मधर्म' नामक दो पुस्तिकायें लिखीं। इनमें प्रतिपादित किया गया कि इस विश्व का निर्माता और नियंता परमेश्वर ही है। जबतक इसका पूर्ण अनुग्रह नहीं होता, तब तक इसे अच्छी तरह समझना संभव नहीं है। परमेश्वर में अनेक गुण और अगणित शक्तियाँ हैं। इन गुणों में प्रतीक के रूप में भक्तजनों ने ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति आदि दैवीतत्वों (देवी-देवताओं) की स्थापना की। उनके उपासना सम्प्रदाय अस्तित्व में आये। वास्तव में कोई भी धर्मग्रंथ ईश्वर प्रदत्त नहीं है। वेद, कुरान, बाइबिल आदि सभी धर्मग्रन्थ पौरुषेय कृतियां हैं।[२]

वैसे देखें तो मनुष्य मात्र के लिये पारमार्थिक धर्म एक ही है। दया, शांति, क्षमा आदि मनोधर्म-मनुष्य के लिये कम या अधिक सर्वसामान्य हैं।

---

१. वेदोक्त धर्मप्रकाश, पृ. १६१, ७०६, ७३८, ७४७ विष्णुबाबा ब्रह्मचारी, १८५९
२. धर्म-विवेचन पृ.८२

उसी प्रकार पारमार्थिक बुद्धि भी मनुष्य की परमकल्याणकारी मानसिक प्रवृत्ति है। अर्थात्, जो परमकल्याणकारी है, उसे ईश्वर प्रदत्त कहने में कोई हर्ज नहीं है।[१] उसी प्रकार अपने चारों ओर फैला असीम संसार भी ईश्वर का प्रमुख ग्रंथ है।[२] 'नीतिपूर्वक सप्रेम ईश्वर भक्ति यही धर्म है' यह दादोबा के विचारों का अंतःसूत्र था।

परमहंस मंडली की आचार संहिता में जातिभेद न मानने संबंधी एक महत्वपूर्ण धारा थी। मानव जाति एक ही है, ऐसी उनकी दृढ़श्रद्धा थी। जातिभेद समाज व्यवस्था का एक बहुत बड़ा दोष है। लेकिन हमें इसके परिणाम की कल्पना नहीं थी। जब तक जातिभेद दूर नहीं होगा, तब तक समाज में सुधार होना कठिन है। दादोबा इस आन्दोलन के प्रखर नेता थे। अपने 'धर्मविवेचन' नामक ग्रंथ में उन्होंने जातिभेद की कसकर जांच-पड़ताल की है। जातिभेद ईश्वर निर्मित नहीं अपितु मनुष्यकृत है। खानपान, विवाह और व्यवसाय आदि बातों में जाति भेद अनिष्ट और अन्यायपूर्ण है। इस कृत्रिम बंधन को तोड़े बिना हमारा सांसारिक उत्कर्ष नहीं होगा। स्त्री-शिक्षा, प्रौढ़-विवाह, पुनर्विवाह, एक पत्नीव्रत आदि मुद्दों पर उनके विचार स्त्री-स्वातंत्र्य की हिमायत करने वाले हैं।

परमहंस मंडली के सदस्यों में सामाजिक सुधारों के प्रति तिलमिलाहट अवश्य थी, लेकिन उनकी मुख्य प्रेरणा थी, 'सच्चे धर्म की खोज!' अपने सामाजिक जीवन में उन्होंने परमार्थ को प्रधानता दी। 'सर्व धर्म समभाव' कोई भी धर्मग्रन्थ ईश्वर प्रदत्त नहीं है।' संसार का विस्तार ही हमारा प्रमुख ग्रंथ है, यही उनके मूल सिद्धान्त थे जिसे तत्कालीन समाज पचा नहीं सकता था। स्वयं दादोबा भी परमहंस मंडली के प्रवर्तक होते हुये भी उनकी सभाओं में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेते थे।

तत्कालीन समाज सुधारकों में अग्रणी लोक हितवादी के शतपत्रों को महाराष्ट्र के सामाजिक प्रबोधन की गंगोत्री कहना उपयुक्त होगा। जिनमें आधुनिक

---

१. धर्म-विवेचन पृ. ७४

२. पारमहंसिक ब्राह्मधर्म अ. १४, मुंबई, शके १८०२

युग की मूलभूत प्रवृत्तियों का पहली बार स्पष्ट और समष्टि रूप में दर्शन हुआ। एक ओर शांति, सुव्यवस्था और सरकारी नौकरी का आकर्षण तथा दूसरी ओर प्राचीन परम्पराओं और श्रद्धास्थलों पर होने वाले आघातों से लोग घबराये हुये थे। अपनी वर्तमान परिस्थिति तथा भविष्य के सुधारों की दिशा लोगों की समझ में आ सके इसलिये लोकहितवादी ने शतपत्रों के माध्यम से जनता का मार्गदर्शन करने का प्रयास किया। 'हमारी विद्या अधूरी और अपर्याप्त होते हुये भी उसपर आप गर्व करते हैं, सामूहिक हित का मार्ग आपको नहीं दिखायी देता। वह मार्ग दिखायी दे, इसी का नाम है 'सुधार'!'

अंग्रेजी पढ़े-लिखे अनेक शिक्षित युवकों के मन पर ईसाई धर्म का कम-अधिक प्रभाव पड़ा था। लेकिन लोकहितवादी को पश्चिम की विज्ञान-निष्ठा अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुई। वे स्वयं धार्मिक प्रवृत्ति के थे। उन्होंने शतपत्रों में भी परमार्थ की महत्ता का गुणगान किया लेकिन स्त्री-शिक्षा, बालविवाह, पुनर्विवाह, जातिभेद अस्पृश्यता जैसे सामाजिक प्रश्नों का उन्होंने सांसारिक दृष्टि से ही मंथन किया। ऐहिक सुख प्राप्त करने के प्रति मनुष्य के मन में स्वाभाविक आकर्षण रहता है जिसे लोकहितवादी निषिद्ध नहीं मानते। तदपि उस पर विवेक अंकुश रहना चाहिये। यह उनका मत था। "बुराई का निषेध करना और अच्छाई को स्वीकार करना यह मन के धर्म हैं और यह ईश्वर की प्रेरणा से ही होता है। मन स्वय ही बहुत बड़ा शास्त्र है और लिखित सभी शास्त्र उसके नीचे हैं।"[१] लोकहितवादी का आशय बिलकुल स्पष्ट था। केवल व्यक्ति को अपने सुख-स्वातंत्र्य तथा समाज की धारणा में सामंजस्य रखना चाहिये। यही उनकी अपेक्षा थी।

संसार शब्द में गति का भाव अन्तर्निहित है। काल किसी की प्रतीक्षा नहीं करता अतः मनुष्य को ही काल की गति के अनुसार चलना चाहिये। हमारे पूर्व संस्कार कैसे भी क्यों न हों, लेकिन जीवन के संघर्ष में परिस्थितियों

---

१. लोकहितवादीकृत निबंध संग्रह पृ. १३४ संपादक : अ.का. प्रियोळकर (द्वितीयावृत्ति) मुंबई, १९४७

से समझौता करना ही पड़ता है। इसी प्रकार लोकाचार में परिवर्तन होता जाता है। इसीलिए आम जनता को प्राचीन कल्पना चक्र से बाहर निकालकर उन्हें आधुनिक विचारों और जानकारियों से अवगत कराना पड़ता है। अंग्रेजों जैसे कर्मठ लोगों से हमारा सम्पर्क हुआ यह ईश्वर का अनुग्रह है। हमें इसका पूरा उपयोग कर लेना चाहिए।

लोकहितवादी के विचारों में दो मुद्दे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके अनुसार लोकशिक्षा सामाजिक सुधारों का राजमार्ग है। सामाजिक जीवन की अनिष्ट–रूढ़ियाँ लोगों को स्वयं तोड़नी होंगी। 'विवाह जैसे स्वनिर्णय के मामले में सरकार का दखल उचित नहीं है। कुछ लोग कहेंगे कि हिन्दू लोग उतने बुद्धिमान नहीं हैं तो क्या चिन्ता है? आज का काम कल होगा लेकिन हर बात सरकार के हाथ में देना ठीक नहीं है। वह होने वाले विलंब से भी खराब है। इसलिये अच्छा यही है कि यह बात लोगों को अच्छी तरह समझा दी जाय।'[१]

पुनर्विवाह जैसे सामाजिक सुधार की बात जिन्हें स्वीकार हो उन्हें चार–पांच–सौ लोगों को अपनी बात समझाकर उसे कार्यरूग में परिणित करने का प्रयास करना चाहिये। सनातनी लोग उन्हें जाति से बहिष्कृत कर देंगे लेकिन इसमें चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे बहिष्कृत सुधारकों की एक अलग जाति बन जाएगी।

लोकहितवादी को सुधारों के मामले में प्रौढ़ तथा वृद्ध व्यक्तियों से किसी प्रकार की आशा नहीं थी। उनकी आशा का केन्द्र शिक्षित युवावर्ग था। उनका विश्वास था कि यदि सुधार होने हैं तो उन्हीं के हाथ से होंगे।

सन् १८५० के बाद के दो दशकों में सामाजिक सुधार की दृष्टि से अनेक अनुकूल घटनायें घटीं। हिन्दुस्तान के अनेक बड़े प्रदेशों में ब्रिटिशों का एकछत्र शासन स्थापित हो गया। जनता की सुविधा के लिये डाक–तार, सड़कें, रेल्वे

---

१. लोकहितवादीकृत निबंध संग्रह पृ. १५ संपादक : अ.का. प्रियोळकर (द्वितीयावृत्ति) मुंबई, [illegible]

तथा यातायात के साधन उपलब्ध कराये गये। चार्ल्स वुड ने शिक्षा संबंधी प्रतिवेदन तैयार किया। इसके अनुसार बंबई, मद्रास तथा कलकत्ता में विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। इसी प्रकार स्त्रियों की शिक्षा के प्रति भी सरकार ने अपनी जागरुकता दिखायी। वुड का विचार था कि उच्चशिक्षा का माध्यम भले ही अंग्रेजी हो लेकिन जनता को शिक्षा के लिये देशी भाषाओं का ही आश्रय लेना पड़ेगा। इसके अलावा ग्रंथ लेखकों को अपनी भाषा और संस्कृति की पृष्ठभूमि जानने के लिये संस्कृत भाषा का अध्ययन करना भी आवश्यक होगा। शिक्षा में एकरूपता आने के कारण देश में एक निश्चित ढंग का शिक्षित वर्ग तैयार हुआ।

सन् १८५७ के विद्रोह के बाद देश में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त हुआ। ब्रिटिश क्राउन का शासन आरम्भ हुआ। शीघ्र ही बंबई, मद्रास और कलकत्ता में उच्च न्यायालयों की स्थापना हुई। (अंग्रेजी मैटर-१४) यह ब्रिटिश शासन का बोधवाक्य था। इन सबके कारण भारत में राष्ट्रीयत्व की भावना का निर्माण होने के लिये अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हुई। पुरानी पीढ़ी के लोगों में अंग्रेजी न जानने का जो शल्य था वह अब दूर हो गया था क्योंकि युवक अब केवल अंग्रेजी जानने ही नहीं लगे थे, अपितु पश्चिमी और पूर्वी संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन भी करने लगे थे। उन्हीं दिनों ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि प्राचीन संत साहित्यिकों का वाङ्मय प्रकाशित हुआ। यह हमारी साहित्यिक विरासत थी, जिसका अध्ययन किये बिना मराठी में उत्तम ग्रंथ लिखना संभव नहीं होगा, ऐसा नवोदित लेखकों को विश्वास हो गया।

यूरोप के इतिहास का अध्ययन करने के बाद शिक्षित युवकों में राजनीतिक आशा का उदय हुआ। अंग्रेजों की स्वातंत्र्यप्रियता तथा न्यायबुद्धि पर उन्हें विश्वास था। साम्राज्ञी विक्टोरिया का घोषणापत्र हमारे न्यायपूर्ण अधिकार की सनद है, ऐसे उन्हें विश्वास था। समाज के उत्कर्ष के लिये आवश्यक शान्ति और सुराज्य से संबंधित जिम्मेदारी स्वीकार करना धार्मिक निरपेक्षता, धार्मिक श्रद्धा-

उपासना और इसमें यदि कभी कोई अड़चन आये तो उससे कानूनन सुरक्षा, वंश, धर्म, जाति आदि का भेद न कर निष्पक्ष ढंग से पात्रता के अनुसार सरकारी नौकरी का आश्वासन ये सब ऐसी बातें थीं जिन्हें लोगों ने नागरिक अधिकारों का आश्वासन मान लिया। राज के प्रति निष्ठावान रहकर वैधानिक ढंग से आन्दोलन करने से सरकारी तंत्र में सहभागिता बढेगी ऐसी उन्हें आशा थी। समाज के विविध स्तरों में जब तक परस्पर विश्वास और ऐक्य भाव निर्माण नहीं होगा तब तक हम प्राप्त सत्ता को अच्छी तरह नहीं सम्भाल सकेंगे यह उन्होंने जान लिया था। इसीलिये वे राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ सामाजिक सुधारों के प्रति कृतसंकल्प थे। उस उदयोन्मुख युवाशिक्षित पीढ़ी के प्रतिनिधि और प्रवक्ता थे रानडे।

न्यायमूर्त्ति रानडे : व्यक्तित्त्व

मूल रूप से एक विचारक होते हुए भी महादेव गोविन्द जी रानडे को केवल तत्त्वचिन्तन में विश्वास नहीं था। समाज के पुनरुत्थान की इच्छा के कारण उन्होंने देश के शिक्षित वर्ग का नेतृत्व किया। प्रगतिशील विचारों का कर्त्तृत्व के साथ मेल बैठाकर उन्हें सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाना था। वे सामाजिक जीवन के भाष्यकार ही नहीं, अपितु शिल्पकार भी थे। रानडे जी के व्यक्तित्व पर इंग्लैंड के उदार मतवादियों का प्रभाव था। लेकिन उनके विचारों को स्वीकार करते समय उन्होंने यहाँ की वस्तुस्थिति को नजरअन्दाज नहीं किया था।

एक सत्प्रवृत्त एवं सनातनी परिवार में जन्म लेने के कारण, उनके मन पर बाल्यावस्था से ही धर्मनिष्ठा और ईश्वरभक्ति की छाप पड़ी हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। उनकी आस्तिकता का बीज उनके आशावाद और कर्मठ व्यक्तित्त्व में स्पष्ट झलकता है। 'सत्यमेव जयते' में उनकी दृढ़ आस्था थी इसीलिये उनमें 'न्याय' और 'करुणा' ऐक्य भाव से विद्यमान थे। विरोधियों की अनुदार टीका से वे प्रभावित अवश्य होते थे किन्तु उस क्षणिक भावना पर विजय प्राप्त कर वे अपने मन की शान्ति कभी ढलने नहीं देते थे। उनके

जीवन में पितृभक्ति को उच्चतम स्थान प्राप्त था। परन्तु यह उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा में कभी बाधक नहीं बनी। कोल्हापुर में जब वे न्यायाधीश के पद पर कार्यरत थे तब की घटना है। उनके पिताजी ने अपने परिचय के मुवक्किल के कागज-पत्र घर में पढ़ने तथा उनका केस सुनने के संबंध में जब अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें सुझाया तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि "किसी भी मुवक्किल का काम घर पर न करने का मेरा नियम है। कृपया मुझे उसका पालन करने दें।" उस समय भी उन्होंने अपनी पितृभक्ति को व्यावसायिक नीति के आड़े नहीं आने दिया।

समस्त मानव मात्र के प्रति उनके मन में गहरी सहानुभूति थी। उनका सार्वजनिक क्षेत्र काफी व्यापक था। फिर भी वे साधारण से साधारण कार्यकर्त्ता का भी उचित ख्याल रखते थे। उसी प्रकार अन्य सामाजिक संस्थाओं के प्रति भी वे समान रूप से आदरभाव रखते थे। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना समाज, सत्यशोधक समाज आदि संस्थाओं के प्रति उनके मन में समान रूप से आत्मीयता थी। राममोहन राय, देवेन्द्र नाथ टैगोर, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, केशवचंद्र सेन, स्वामी दयानंद, ज्योतीराव फुले आदि के प्रति भी उनके मन में स्वाभाविक रूप से आदर भाव था। सनातनी तथा सुधारवादी, नरम तथा गरम दल; श्रद्धालु एवं बुद्धिवादी, इन सभी से वे सम्पर्क रखते थे और उनका मत जानने के लिये उत्सुक रहते थे। वे समन्वयवादी थे तथा मेल-मिलाप में विश्वास रखते थे। धर्म, तत्त्वज्ञान, साहित्य, शिक्षा-शास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र विधि आदि विषयों का उन्होंने गहन अध्ययन किया था। वे किसी भी विचार से तत्काल अभिभूत नहीं होते थे।

कृतित्त्व

रानडे ने सन् १८७० के लगभग सामाजिक उत्थान के सूत्र अपने हाथ में लिये। इससे पूर्व अंग्रेजी शिक्षा में पारंगत जांभेकर, दादोबा पांडुरंग तथा लोकहितवादी ने सामाजिक सुधारों पर ध्यान देना प्रारंभ कर दिया था। रानडे ने इन तीनों के विचारों से ग्रहण किये जा सकने वाले अंश को अपने विचारों

में मिलाया। महात्मा ईसा के एकेश्वरवाद एवं मानव धर्म का भी उनकी जीवन दृष्टि पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा था। अपनी विवेक बुद्धि का पूरा उपयोग कर सांसारिक दृष्टिकोण से सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने की लोकहितवादियों की विवेचन पद्धति को भी उन्होंने अनेक सन्दर्भों में स्वीकार किया। रूढ़िवाद के प्रभाव को कम कर आधुनिक विचार और मूल्यों को शिक्षित समाज पर अंकित करना उनका उद्देश्य था। उनका कहना था कि "हर देश में संभ्रांत वर्ग के अल्पसंख्य बुद्धिवादी ही लोकमत का निर्माण करते हैं, समाज को नेतृत्व प्रदान करते हैं, इस बात का इतिहास साक्षी है।"[१]

रानडे ने सामाजिक जीवन में प्रवेश किया, उस समय अनेक सुशिक्षित एवं समाज हितचिन्तक इस कार्य में लगे हुए थे। शिक्षा प्रसार, साहित्य सेवा, स्त्रीदास्य विमोचन, धर्म सुधार, प्राच्यविद्याध्ययन, इतिहास संशोधन, राजनीतिक जागृति आदि अनेक मोर्चों पर प्रयास चल रहे थे–डॉ. भाऊ दाजी, कृष्णशास्त्री चिपलुणकर, विष्णुशास्त्री पंडित, आत्माराम पांडुरंग, डॉ. भांडारकर, नीलकंठ जनार्दन कीर्तने, का.ना.साने, सार्वजनिक काका आदि समाज सुधारकों का कार्य सर्वविदित ही है। उनके प्रयासों को व्यापक सैद्धांतिक आधार देने का कार्य रानडे ने किया। हमारे सामाजिक जीवन के आधुनिकीकरण की अभिलाषा तो उनमें थी लेकिन भारतीय परम्परा का उत्तम अंश कायम रखने की सावधानी भी उनमें थी। उनका प्रयास रोगग्रस्त एवं मृतप्राय हिन्दूसमाज की सद्विवेक बुद्धि को नवजीवन देने का था। बाबासाहब आंबेडकर के शब्दों में "सच्चा लोकतंत्र स्थापित करने का रानडे का उद्देश्य था।"[२]

रानडे धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे लेकिन उनकी धर्मश्रद्धा संकुचित नहीं थी। धर्म के संबंध में उनकी कल्पना अत्यन्त उदार और व्यापक थी। अन्य धर्मों की अच्छी बातों को स्वीकार करने में उन्हें जरा भी संकोच नहीं होता था। समाज के विविध क्षेत्रों के अलग–अलग प्रवाहों का वस्तुनिष्ठ तथा मूलभूत

---

1. M.W., P. 71
2. Rande, Gandhi & Jinnah P. 27

विवेचन कर एक सर्वग्राह्य और सर्वव्यापी विचारधारा प्रस्तुत करने वाला रानडे जैसा चिन्तक महाराष्ट्र में अन्य कोई नहीं हुआ।

रानडे का विचार प्रतिपादन कर्मठ-सुधारकों के मार्गदर्शन के लिये था। सामाजिक उत्थान के लिये संघटित प्रयास की आवश्यकता होती है इसलिये उन्होंने प्रार्थना समाज, सार्वजनिक सभा, सामाजिक परिषद, औद्योगिक परिषद, डेक्कन सभा जैसी अनेक संस्थाओं की स्थापना, संगठन एवं संचालन में योगदान दिया। महाराष्ट्र में निःस्वार्थ वृत्ति से कार्य करने वालों की एक परम्परा निर्मित हुई, जिसका श्रेय रानडे को जाता है। दयानंद स्वामी की शोभायात्रा पर विरोधियों ने कीचड़ फेंका उसमें रानडे के कपड़े भी गंदे हुये। जब इस संबंध में घर के लोगों ने उनसे पूछा तो वे बोले, "पार्टी के कामों में तो ऐसा होता ही है। दूसरी पार्टी का व्यक्ति छोटा है या बड़ा है, इसकी चिन्ता अन्य पार्टी वाले क्यों करें? ऐसी स्थिति में हमारे मन में अपने मान या अपमान की बात क्यों आती?" उनके सामने ज्ञानेश्वर जैसे संतों का आदर्श था। संत तुकाराम की इस बात[१] में उनका अटल विश्वास था कि संत वही है जो संसार के आघात सहन करता है। मानव जीवन का यह सहज धर्म है कि यदि वह प्रकाश चाहता है तो उसे उष्णता का ताप सहन करना होगा। तदपि कहीं प्रकाश के अधिक निकट जाने से झुलसने की नौबत न आये इसका उसे ध्यान रखमा होगा।[२]

सामाजिक अधःपतन के कारण

सामाजिक सुधार के रास्ते पर चलने से पहले यह देखना नितान्त आवश्यक है कि जिस स्थान से हम यह यात्रा प्रारंभ कर रहे हैं वहाँ किस प्रकार के दोष हैं और क्या कमियाँ हैं? हमारी पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्था अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण और त्याज्य हो गयी थी। हमारे धार्मिक जीवन में अनेक गलत प्रवृत्तियों ने अधिष्ठान बना लिया था। रूढ़िवाद के दीर्घकालीन तथा सर्वव्यापी प्रभाव के चलते हमारे मन मस्तिष्क पर उसकी मोहिनी सदैव

१. "तुका म्हणे तोचि संत। सोसी जगाचे आघात।।"
२. मामा परमानंद आणि त्यांचा कालखंड पृ. ४९१

छायी रहती थी। रूढ़ियों का निर्वाह करते समय हम अपनी विवेक-बुद्धि को बाँधकर रख देते थे। मन में उठने वाली भावनाओं को बाहर आने से रोकते थे और कुलाचार के नाम पर आश्रित परिवारजनों को मानसिक यातनायें पहुँचाते थे। समाज के निचले तबके के लोगों के साथ अशिष्ट और सौहार्द्रहीन व्यवहार करते थे। कोई भी सूझ-बूझ वाला व्यक्ति इसे उचित नहीं कह सकता। लेकिन इसे ठीक करने के लिये निश्चयपूर्वक क्या करना चाहिये इसे कोई नहीं जानता क्योंकि हमारी बुद्धि अस्थिर और अपरिपक्व रहती है। पिछले एक हजार से अधिक वर्षों के कालखंड में हम भारतीय हर क्षेत्र में पीछे रह गये हैं। निरंतर होने वाले विदेशी आक्रमणों के कारण हमें बार-बार समर्पण करना पड़ा है। हमारी इस अवस्था का कारण हिन्दु समाज के मूलतत्त्वों में तथा उससे उपजे दोषों के कारण है। इन दोषों को मिटा देना चाहिए ऐसा रानडे जी का मत था। हमारी कूप-मंडूक प्रवृत्ति और चिड़चिड़ापन, स्वयं की अंत:प्रेरणा की अपेक्षा बाह्यशक्ति और सत्ता पर विश्वास, जन्म आधारित अस्वाभाविक और असंगत भेदभाव, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में होने वाले अन्यायों के प्रति उदासीनता का भाव और इस प्रकार उसके प्रति मूक सहमति और सांसारिक खुशहाली के प्रति उदासीनता आदि बातों से ही हमारा ह्रास हुआ है[1] स्त्री पर पुरुष का स्वामित्व तथा "नीची" कहलाने वाली जाति पर "उच्च" बर्णियों का वर्चस्व रहा है। अस्पृश्यता के कारण तो अनेक जातियाँ सादी मानवता से भी वंचित रहीं। प्रकृतिप्रदत्त बुद्धि, क्षमता और प्रवृत्ति जैसे मामलों में मनुष्य में सदा ही अन्तर रहता है इसमें सन्देह नहीं है। इसके अलावा हमारी परम्परा के अनुसार व्यक्ति की प्रतिष्ठा और अधिकार जन्मना निश्चित होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति की पारिवारिक विरासत उसके लिये पोषक अथवा बाधक सिद्ध होती है। लेकिन केवल कुल, जाति और वर्ण से ही मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। अच्छा अवसर मिलने पर बिलकुल निचले स्तर से भी श्रेष्ठ प्रतिभायें उभरकर सामने आती हैं इतिहास इस बात का साक्षी है।

1. M.W., P. 192

स्पृश्य-अस्पृश्य की कल्पना ने समाज के विभिन्न घटकों में दूरी पैदा कर दी। रोटी-बेटी व्यवहार का दायरा संकुचित हो गया। इससे एक तो समाज के अभिसरण में रुकावट पैदा हुई, साथ ही उपजातियों की संख्या भी बढ़ गयी। एक दूसरे के प्रति अविश्वास की भावना बढ़ी, जिससे सामाजिक एकता में बाधा उत्पन्न हो गयी। इससे विदेशियों के लिये भारतीय समाज में प्रवेश करने का मार्ग सरल हो गया। भारतीय समाज की दुर्दशा का सबसे बड़ा कारण यह भी था कि हम स्वयं किसी भी समस्या का समाधान नहीं कर सके। राजा, स्वामी, गुरु और परिवार के मुखिया का आदेश मानने में हम धन्यता महसूस करने लगे। कठिनाई आने पर हम या तो ईश्वर को या फिर भाग्य को दोष देते रहे हैं। भारतीय चिन्तकों ने भौतिक समृद्धि की अपेक्षा आत्मिक उन्नति का, इस लोक की अपेक्षा परलोक का अधिक तन्मयता से विचार किया। मानवीय जीवन दुःखमय और क्षणभंगुर है। उसमें शाश्वत सुख मिलने की कोई आशा नहीं है। इसलिये उसकी ओर पीठ घुमाकर सच्चिदानंद स्वरूप परमात्मा की उपासना में लीन हुये बिना हमारा जन्म सार्थक नहीं होगा। ऐसी हमारे प्रज्ञावानों की विचार शैली थी। रानडे की अपने धर्मग्रन्थों पर अटूट श्रद्धा थी। लेकिन उनके सारतत्व विवेचन की उनकी पद्धति निराली थी। जनसाधारण की प्रवृत्ति से बिल्कुल विपरीत। अनासक्ति और लापरवाही, नैष्कर्म्य और निष्क्रियता का अन्तर जनसामान्य की समझ में नहीं आता था। चारों ओर व्याप्त अन्याय, जुल्म, शोषण, भुखमरी, झूठ, अपराध, ढोंग आदि के प्रति जनसामान्य के मन में रोष उत्पन्न नहीं होता था। वास्तव में दुष्ट बुद्धि, दुराचरण, जोर-जबर्दस्ती आदि के प्रति सुप्त आकर्षण हमारी पशुवृत्ति का द्योतक है। दरिद्रता, बेहाली, गुंडागर्दी, धोखाधड़ी ये बातें संसार से कभी समाप्त नहीं होंगी। मायावी विश्व का शुभ और अशुभ दोनों ही मिथ्या है। यह पलायनवादी दृष्टिकोण वास्तव में निम्नकोटि का नास्तिकवाद है।[१]

पाप-पुण्य की कल्पनाओं की हमने समय-समय पर पड़ताल नहीं कि इसलिये भगवान की मूर्ति के आगे असहाय प्राणी की बलि देते समय अथवा

1. M.W., P. 195

उत्सव समारोहों में देवदासी का नाच देखते समय भक्तजनों को आपत्ति नहीं होती। वास्तव में धर्म जीवन को उन्नत करने के लिये है। लेकिन वही अध:पतन का कारण बन गया।

इतिहास के प्रति उदासीनत्ता भी हमारा एक प्रमुख दोष है। हमने इतिहास की उपेक्षा तो की ही, साथ ही इतिहास के साधनों को भी सुरक्षित नहीं रखा। इतिहास से हमने कुछ नहीं सीखा, अलबत्ता हम काल से परे जो अचिन्त्य है उसके चिन्तन में ही हमारे ज्ञानोपासक तल्लीन थे। अबतक जो दोष गिनाये गये हैं उनका जबतक निराकरण नहीं होता तबतक भारतीय समाज की उन्नति संभव नहीं है, इन बातों को रानडे ने अनेक बार प्रतिपादित किया।

प्रगति की दिशा

पाश्चात्य लोगों की ज्ञानसम्पदा, प्रगति और ऐश्वर्य तथा इसके विपरीत भारतीयों का अज्ञान, परिस्थिति से समझौता कर लेने की प्रवृत्ति और दरिद्रता, इनमें विराट अन्तर देखकर नवशिक्षितों ने अंग्रेजों की भाषा, वेशभूषा, आहार, उपासना, शिष्टाचार आदि बातों का अनुकरण करना प्रारंभ कर दिया। रानडे ने कई बार समझाने का प्रयास किया कि सुधारों का अर्थ पश्चिमी लोगों के रहन-सहन का विवेकहीन अनुकरण नहीं है। सुधारों का मुख्य उद्देश्य है, बंधन से मुक्ति। रूढ़ियों से ग्रस्त लोगों के मन को पूर्वाग्रहों से मुक्त करना चाहिये। उनमें अपने आन्तरिक अनुभव से आधुनिक युग प्रवृत्तियों के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने का सामर्थ्य आना चाहिए। इस दृष्टि से हमें अपनी सामाजिक संस्थाओं में भौतिक परिवर्तन लाना चाहिये। यही रानडे की सुधारवाद की प्रेरणा थी। उन्हें विश्वास था कि ईश्वर ने इस देश की जनता के लिये विशेष ध्येय निर्धारित किया है। इसीलिए उसने इंग्लैंड सरीखे पराक्रमी और स्वातंत्र्य प्रिय राष्ट्र के साथ हमारा संबंध जोड़ा है। पश्चिमी देशों को भी हमारी पुरातन विद्या और संस्कृति का महत्व समझ में आ गया है। प्राच्य विद्याओं का अध्ययन दोनों खंडों के देशों के लिये उपयोगी सिद्ध होने वाला है। दूसरे की संस्कृति के प्रति आदर रखकर उसमें जो उत्कृष्ट अंश है उसे ग्रहण करने के लिये

हम शीघ्र ही उद्यत होंगे, इस बात के शुभ संकेत दिखायी देने लगे हैं।[१] यदि हम अपनी परम्परा के चिरंतन मौलिक आशय की पड़ताल कर उसका पश्चिमी देशों में आधुनिक मूल्यों के साथ तालमेल बैठायें तो निश्चय ही हमारा भाग्य चमक उठेगा, यह आशावाद रानडे के लेखन में सर्वत्र दिखायी देता है।

हम सामाजिक जीवन को धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विभागों में बांटते हैं, लेकिन यह विभाजन केवल विवेचन की सुविधा के लिये है। सामाजिक जीवन में इस प्रकार का भेद करना संभव नहीं है। सामाजिक जीवन का एक भी अंग अगर बीमार या कमजोर रहेगा तो उसका प्रभाव दूसरे अंगों पर होने से नहीं बचेगा। अतः केवल एक क्षेत्र के प्रति जागरूक रहकर अन्य क्षेत्रों की उपेक्षा करने वाला व्यक्ति अपने सामाजिक दायित्व के प्रति जागरूक नहीं कहा जा सकता। हमारा आर्थिक विकास हुए विना हमें राजनीतिक स्थिरता तथा सामाजिक सुस्थिति का लाभ नहीं मिलेगा। हमारे धार्मिक जीवन में जबतक अज्ञान और अन्धश्रद्धा, मनोर्दौबल्य तथा दम्भ की प्रबलता है तबतक हम किसी भी क्षेत्र में अपने कर्तृत्व का झंडा नहीं गाड़ सकते। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में परस्पर संबंध कोई निरर्थक संयोग नहीं अपितु सुसंगठित मानव का सहज धर्म है।[२]

अतः हमें आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सभी मोर्चों पर समान रूप से प्रयत्नशील रहना चाहिये। यह रानडे का युक्तिवाद था। पराधीन देश में राजनीतिक आन्दोलन के प्रति अधिक उत्साह होना स्वाभाविक है, इसे वे अच्छी तरह जानते थे। सैकड़ों वर्षों से हमारे लोग उदासीन थे। अतः जनमानस में पहली बार उत्पन्न होने वाली राजनीतिक अधिकारों के प्रति जागरूकता स्वागत योग्य है, ऐसी उनकी भावना थी। सामाजिक सुधारों का उन्होंने बड़ी तत्परता से अनुमोदन किया। लेकिन साथ ही अपनी शिकायतें सरकार के सामने रखकर उनका निराकरण करने की सीख भी उन्होंने जनता को दी। उनकी ही प्रेरणा

---

1. Religions and Social Reform P. 3
2. M.W., P. 232

से सन् १८७४ ई० में सार्वजनिक सभा ने पार्लियामेन्ट में प्रतिवेदन भेजा। भारतीय जनता को अपने चुने हुये प्रतिनिधि पार्लियामेन्ट में भेजने का अधिकार प्राप्त हो यही उनकी पहली मांग थी। कांग्रेस के अधिवेशनों में वे नियमानुसार उपस्थित रहते थे। सामाजिक परिषद के तो वे सूत्रचालक ही थे। यहाँ के पढ़े-लिखे युवकों को आर्थिक मामलों में कोई खास दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन रानडे ने विभिन्न देशों की आर्थिक स्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन किया था। हमारी आर्थिक स्थिति की शास्त्रशुद्ध जाँच कर उन्होंने भारतीय अर्थशास्त्र की नींव रखी।

रानडे की हिन्दू धर्म के प्रति अटल श्रद्धा थी। लेकिन धर्मनिष्ठ होते हुए भी उनमें साम्प्रदायिकता नहीं थी। हिन्दु, मुसलमान, पारसी, ईसाई ये सब आखिर भारतीय ही तो हैं। समान आकांक्षाओं और हितों का ध्यान रखकर जबतक हिन्दु-मुसलमान एकजुट होकर प्रयास नहीं करेंगे तब तक इस देश का उद्धार नहीं होगा, ऐसी उनकी धारणा थी, जिसकी उन्होंने सामाजिक परिषद में लखनऊ अधिवेशन में घोषणा की थी।

मानव की स्वतःसिद्ध पवित्रता तथा प्रतिष्ठा, आधुनिक उदार मतवाद का प्राण है। व्यक्ति की प्रेरणा, आकांक्षा, प्रतिभा और कर्तृत्व में ही सामाजिक प्रगति का रहस्य छिपा है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा को अधिक से अधिक अवसर देने में ही व्यक्ति और समाज का हित है, ऐसा बेंथम, एडम स्मिथ, मिल पितापुत्र जैसे उदार मतवादी चिन्तकों की विचारधारा का आशय था। रानडे ने मन ही मन उदार मतवादी तत्वों को स्वीकार कर लिया था। उन्हें भारतीय समस्याओं के सन्दर्भ में किस प्रकार लागू किया जाय, इस संबंध में उन्होंने स्वतंत्र रूप से विचार किया। उन दिनों भारत का सामाजिक जीवन मध्ययुगीन कल्पनाओं एवं रूढ़ियों के वर्चस्व के कारण संकुचित होकर रह गया था। इसलिये लोगों को उससे बाहर निकाल कर उनकी पूर्वाग्रहदूषित बुद्धि पर पड़े आवरण को हटाकर उन्हें अपनी विवेकबुद्धि का निर्णय मानने के लिये कहना रानडे के सुधार आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य था। इसके लिए समाज को अपने

सामाजिक संबंधों में बदलाव लाना भी आवश्यक था। समाज ऊँच-नीच तथा छोटी-बड़ी जातियों के बंधन में फँसा हुआ था। उनके ही शब्दों में-

"रूढ़ि की दासता, धर्मान्धता, जन्मसिद्ध अधिकार, दिखावा, असंगठित जीवन, धार्मिक उन्माद तथा अंधे दैववाद के स्थान पर व्यक्ति स्वातंत्र्य पवित्र धर्मश्रद्धा, करार का बंधन, विवेक, व्यवस्थित जीवनशैली, परधर्म सहिष्णुता एवं मानवता की प्रतिष्ठा आदि तत्वों को प्रस्थापित करने का ही नाम परिवर्तन है।"[१]

सामाजिक सुधारों के विविध मार्ग

हमारे सामाजिक जीवन में कुछ सुधार होने चाहिये इस संबंध में तत्कालीन शिक्षित युवकों में मतैक्य था किन्तु इसके लिये समाज में फैली अनिष्टकर संस्थाओं और रूढ़ियों को हटाना भी आवश्यक है इस संबंध में उनमें एक मत नहीं था। एक मत उनका था जो काल की गति तथा शिक्षा पर निर्भर रहने के पक्ष में थे। उनका विचार था कि जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होगा, वैसे-वैसे रूढ़ियों का बंधन अपने आप ही ढीला पड़ता जाएगा। लेकिन रानडे इस विचार के कायल नहीं थे। बदली हुई परिस्थिति के आगे घुटने टेकने को वे सामाजिक सुधार मानने को तैयार नहीं थे। "हम शरीर की कोई हलचल न करें और केवल किसी, द्रुतगामी वाहन में बैठकर लंबी दूरी तय कर लें तो उससे शरीर का सामर्थ्य नहीं बढ़ता। उसी प्रकार परिस्थिति हमारे ऊपर सुधारों की कितनी ही बरसात क्यों न कर दें, लेकिन इससे समाज की प्रगति नहीं होती।[२] इसलिये हमें स्वयं ही अपने पूर्वग्रहों से तथा प्रतिगामी शक्तियों से लड़ना होगा।

सामाजिक सुधारों के संबंध में प्रस्तुत किये जा रहे तरह-तरह के विचारों में एक मत रावसाहब मंडलिक का था जो सनातनी संप्रदाय के प्रमुख थे और पुराने परम्परागत विचारों के लोग उन्हें अपना हिमायती मानते थे। उन्होंने कुछ गिने-चुने सुधारों का अनुमोदन किया। उनके पक्ष के लोग 'स्वयंप्रेरित सुधारों (रिफार्म फ्राम विदिन)' पर बल देते थे। पारम्पिक संस्थाओं का महत्व कायम

1. M.W., P. 116
2. M.W., P. 112

रखते हुए सुधार किये जाएँ, शास्त्री पंडित, धर्मगुरु, आचार्य, महाधीश आदि को अपनी ओर मिलाकर उनके आदेश के अनुसार सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाया जाय, ऐसा उनका विचार था। रानडे किसी भी साधन को निषिद्ध नहीं मानते थे। पुरातन लोगों का सहयोग लेने के लिये वे तैयार रहते थे, लेकिन इन लोगों का सामाजिक सुधारों में कोई खास सहयोग मिल पायेगा, इसमें उन्हें संदेह था।

न्या. तेलंग का भाषण "पहले सामाजिक सुधार हों या राजनीतिक सुधार?" विशेष रूप से चर्चित था। रानडे ने तैलंग का इस भाषण के लिये अभिनंदन किया। लोगों ने इसका गलत अर्थ लगाया। उन्होंने सोचा कि वे तैलंग के विचारों का समर्थन कर रहे हैं। रानडे को भय था। कि कहीं पलायनवादी सुधारक अपने तर्क की पुष्टि में इसका उपयोग न करें।

जनता में व्याप्त उदासीनता सुधारों के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा है। वह रोड़ा हट जाने के बाद जब समाज में चेतना जगती है तो सहज ही समाज में दो गुट बन जाते हैं--पहला सनातनी लोगों का तथा दूसरा सुधारवादी लोगों का। इनमें जबर्दस्त संघर्ष होता है। दोनों ही पक्षों की ओर से होने वाला यह संघर्ष अटल है। लेकिन हमें किसी की भी स्वतंत्रता छीनने का अधिकार नहीं है। सुधार का कार्य भले ही मंद गति से क्यों न चले लेकिन उसकी नींव ठोस होनी चाहिये ऐसा रानडे का मत था।

हिन्दू-धर्म श्रुति-स्मृति पुराणोक्त है। "तस्मातछास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितो।" रानडे को प्राचीन धर्मग्रंथों और वैदिक संस्कृति पर गर्व था। यदि स्त्री-शिक्षा, प्रौढ़-विवाह, पुनर्विवाह, परदेशागमन आदि सुधारों को शास्त्रों का आधार मिल जाय तो उनका लोगों में शीघ्र प्रचार हो पायेगा। इसलिये उन्होंने परम्परानिष्ठ, समन्वयवादी सुधारकों के प्रयासों का स्वागत किया। विष्णु-शास्त्री पंडित, डॉ. भांडारकर सरीखे विद्या व्यसनी इस वर्ग के प्रतिनिधि थे।

लोगों की न्यायबुद्धि का आवाहन कर सुधार लाने का मार्ग भी रानडे को उचित लग रहा था। सुधारों की उपयुक्तता समझ में आने पर भी अनेक

शिक्षित लोग लोकमत के दबाव में, रूढ़ियों के आगे नतमस्तक हो जाते थे। उनका मानसिक संबल बढ़ाने के लिये किसी संगठन की स्थापना कर उसके सदस्यों को कुछ सुधारों के संबंध में अपने को प्रतिबद्ध कर लेना चाहिये। इससे कथनी व करनी (उक्ति और कृति) में विसंगति अपने आप दूर या कम हो जायेगी। लेकिन इस संगठन की सदस्यता ऐच्छिक होनी चाहिये। जहाँ यह उपाय कारगर न हो वहाँ कानून की सहायता से सुधार लागू करने के लिये रानडे ने सहमति प्रदान की। कुछ सामाजिक समस्याओं में सरकार ने कानून बनाकर हस्तक्षेप किया भी।

भारत जैसे अविकसित देश में सामाजिक सुधारों को तत्त्व के स्वीकार किये जाने के बाद उन्हें व्यावहारिक रूप देने में काफी समय लगेगा। अतः सुधारकों को अपना अलग पंथ बनाकर सुधारों का काम शुरू कर देना चाहिये ऐसा मानने वाले सुधारकों का एक वर्ग था। उनके सामने ब्राह्म समाज और आर्य समाज के आदर्शो के उदाहरण थे। लेकिन रानडे को यह पसंद नहीं था। लोगों के बीच रहकर कभी लड़-झगड़ कर तो कभी मिल बैठकर, सहमति के साथ काम करना उन्हें हितकर लगता था। सुधारकों के एक अलग वर्ग की कल्पना से वे असहमत थे।

रानडे ने विभिन्न सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण मुख्यरूप से ऐहिक दृष्टि से किया था, लेकिन उनकी विचार प्रक्रिया में धर्म-भावना अन्तर्भूत थी। पारमार्थिक उन्नति और ऐहिक उत्कर्ष, ईश्वर भक्ति और व्यवहार कुशलता इनमें उन्होंने कोई भेद स्वीकार नहीं किया। उन्हें विश्वास था कि यदि सुधारवादी कार्यकर्त्ताओं का ईश्वर पर तथा अपनी सद्विवेक बुद्धि पर विश्वास है तो उन्हें निराशा का कभी मुँह नहीं देखना पड़ेगा। केवल समाज के सुख-दुःख और लाभहानि का गणित लोगों के सामने रखने से सुधार आन्दोलन में गति नहीं आयेगी। इसके लिये लोगों के अंतःकरण में विशुद्ध धर्मभावना की ज्योति प्रज्वलित करनी होगी, ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था।[१]

1. M.W., P. 71

यह धर्मभावना प्राय: भारत के आधुनिक सुधारवाद की विशेषता है। राम मोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक सभी नेता धार्मिक प्रवृत्ति के थे। केवल सवर्ण ही नहीं, अपितु महात्मा फुले, महर्षी शिंदे जैसे बहुसमाज के कर्मयोगी और दलित समाज के शिखर पुरुष डॉ. अम्बेडकर भी धर्मनिष्ठ ही थे।

धर्मनिष्ठा और उदारमतवाद

उदारमत का परिचय हमें पश्चिमी देशों से मिला। जब कोई विचारधारा किसी मिट्टी में अंकुरित होती है, तो उसमें उस मिट्टी की सुगंध अवश्य रहती है। इंग्लैण्ड और फ्रांस में पनपने वाले उदारमतवाद संबंधी विचारों में काफी भिन्नता है। रानडे, तिलक और विष्णुशास्त्री बापट इन तीनों को ही धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा थी लेकिन उनकी धर्म संबंधी कल्पनायें भिन्न-भिन्न थीं इस विचारधारा के जनक जॉन लॉक ने भी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है। सभी मनुष्य सर्वशक्तिमान एवं अनंतप्रज्ञ ईश्वर के पुत्र हैं। वह हमारा निर्माता भी है और नियंता भी। किसी विशेष कार्यसिद्धि के लिये उसने हमें इस धरती पर भेजा है। वह हमारा स्वामी है और हम सब उस सर्वशक्तिमान के सेवक हैं अत: सारे मनुष्य सिद्धान्त रूप में स्वतंत्र और एक समान है। समस्त मानव मात्र पर ईश्वर का अधिकार है। अत: किसी भी व्यक्ति को क्षुद्र मानकर उसे अपने उद्देश्य पूर्ति का साधन बनाने का, शोषण करने का अथवा मारने का अधिकार नहीं है।[1] प्रकृति के नियमों के सिद्धान्तों पर आधारित लॉक के राजनीतिक विचारों में मानव की प्रतिष्ठा और व्यक्ति स्वातंत्र्य की बातें नैसर्गिक एवं प्रामाणिक हैं। लेकिन तिसपर भी वे धर्मनिष्ठ थे।[2]

प्रख्यात अर्थशास्त्री एडम स्मिथ के अनुसार प्राकृतिक अर्थव्यवस्था केवल श्रेयस्कर ही नहीं, अपितु ईश्वर प्रदत्त है। उनके ये विचार उनके आस्तिक बुद्धि के प्रतीक हैं, यद्यपि वे उदारमतवादी अर्थशास्त्र के आदिपुरुष माने जाते हैं।

1. Great Political Thinkers P. 394
2. Masters of Political Thought, Vol.2, P. 154

जॉन स्टुअर्ट मिल में इग्लैंड के उदारमतवाद का परिपक्व स्वरूप व्यक्त हुआ। उन्होंने मानव जीवन में नैतिकता को प्रमुख स्थान दिया। सत्यनिष्ठा को केवल व्यक्तिगत गुण न मान उसे वे सामाजिक मूल्य का पर्याय मानते थे। विचार, भावना और कृति के सुखद तालमेल में ही जीवन की एकात्मता का मार्ग निहित है ऐसा उनका मानना था।

मनुष्य मर्त्य है यह सत्य है किन्तु यदि कोई रात–दिन मृत्यु का ही विचार करे तो वह साहस खो बैठेगा और इससे उसकी मानसिक स्वस्थता और कर्त्तव्य निष्ठा प्रभावित होगी। इसलिये किस बात का ख्याल रखना है और किस बात को नज़रअन्दाज़ करना है इसका विवेकपूर्ण विचार मनुष्य को करना चाहिये। शायद आदर्श नैतिक सत्ता का अस्तित्व काल्पनिक हो लेकिन यदि मनुष्य उसमें चैतन्य और स्फूर्त्ति ला सके और उससे संवाद साधने का निरंतर प्रयास करे तो इससे उसकी नैतिक उन्नति होती है यह अनुभव सिद्ध सत्य है। व्यक्तिहित तथा समाजहित, व्यक्तिस्वातंत्र्य और कर्तव्यभाव इनका अचूक समन्वय–साधने वाली नीति; मनुष्य के मन की सहानुभूति, उदारता उच्चतर जीवन की आकांक्षा आदि बातों का आवाहन कर अधिक प्रभावशाली हो सकती है। जिनके प्रति हमारे मन में प्रेम और आत्मीयता है, भले ही वे जीवित हों या मृत हों, उन्हें हमारा आचरण प्रशंसा योग्य लगेगा या लगा होता यह भावना तथा साक्रेटीस, ईसा जैसे महापुरुषों के कदमों पर चलने का अनुभव, ये दोनों ही मनुष्य को निष्ठा और उदात्त भावना के प्रति ईमानदार रहने के प्रयास में सहायक सिद्ध हुए हैं। इस भावना को 'नीति' कहना वास्तव में उसका अवमूल्यन करने जैसा है। वास्तव में यह भाव ही सच्चा धर्म है ऐसी मिल की विचारधारा थी।[१] इस धर्म को वे मानवधर्म कहते थे क्योंकि वे अति प्राकृतिक तत्वों पर आधारित धर्म को धर्म नहीं मानते थे। मनुष्य के अन्तःकरण में यथार्थलक्षी और परतत्व लक्षी ये दो प्रवृत्तियाँ हैं। परतत्वलक्षी प्रवृत्ति मिल के मानवधर्म का मूल आधार है। मिल के ऐहिकनिष्ठ और नीतिप्रधान विचारों का रानडे के मन पर गहरा

1. Three Essays on Religion, P. 109

प्रभाव पड़ा। तदपि वे परमेश्वर के अति प्राकृतिक तत्व के अस्तित्व और सत्ता को स्वीकार करते थे। उनकी विचार शैली इसी धर्मश्रद्धा के आधार पर विकसित हुई। पश्चिम के उदारमतवादियों के विचारों से मतभेद रखते हुए भी उन्होंने उदारमतवाद के सर्वमान्य तत्त्वों को निश्चित रूप से स्वीकार किया।

समकालीन धर्म मतों पर रानडे की सम्मति–

हमारी आम जनता पर प्राचीन धर्म की तुलना में ईसाई धर्म का प्रभाव इतना कम क्यों पड़ा है, यह प्रश्न रानडे के मन में उठता था। प्राचीन धर्म के अनुयायियों को इसे नये पंथ पर कुछ आपत्ति थी। इसमें कुछ तो सत्यांश है, ऐसा रानडे का मत था। साथ ही उनकी यह भी भावना थी कि इस पंथ के प्रवक्ताओं को सत्यस्थिति जानने के लिये थोड़ा आत्मनिरीक्षण करना चाहिये। इस पंथ के लोगों ने केवल भावनात्मक पक्ष का ही विचार किया था। ब्राह्म समाज के प्रचारक ईश्वर के पितृत्व और मानव के भ्रातृत्व में विश्वास करते हैं और इन्हीं तत्वों का बार-बार उच्चार करते थे। इसी अधिष्ठान पर वे अपने पंथ को समस्त मानव जाति का धर्म बनाने का विश्वास रखते थे। प्रार्थना समाज के प्रवक्ता तो इससे भी एक कदम आगे बढ़ कर परमेश्वर के एकत्व संबंधी सिद्धांत पर डटे रहते थे। हिन्दू धर्म की 'उद्वेगजनक दुष्प्रवृत्ति' के रूप में वे मूर्तिपूजा का निषेध करने में ही धन्यता मानते थे।

धर्म का संबंध समग्र जीवन से है। भक्त का अन्तःकरण शुद्ध और श्रद्धायुक्त होना ही पर्याप्त है लेकिन धर्म के चिन्तनात्मक और क्रियात्मक ये दोनों ही अंग भावनात्मक अंग की ही तरह महत्वपूर्ण हैं। भावना, विचार और कृति का समन्वित रूप प्राप्त हुए बिना धर्मसाधना निर्दोष और फलदायी नहीं हो सकती, यह बात रानडे ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कही है। अपने ईश्वरवाद को उन्होंने भागवत धर्म नाम दिया है। ज्ञान, कर्म और शक्ति की जड़ता धर्मश्रद्धा के लिये घातक है ऐसा रानडे का मत था। किसी को यह मत मान्य हो या न हो, लेकिन उनकी दृष्टि व्यापक और सर्वस्पर्शी थी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उनके भागवत धर्म में भावजड़ता अथवा भावविवशता का कोई स्थान नहीं था।

किसी भी विषय की व्यापकता का आकलन किये बिना चिन्तक उस पर अपनी पकड़ कायम नहीं कर सकता। इसलिये रानडे ने सबसे पहले धर्ममीमांसा में आने वाले मूलभूत प्रश्नों का परीक्षण किया। सृष्टि का उद्भव, मानव का जन्म, परमेश्वर और संसार, मन और जड़ सृष्टि आदि के परस्पर संबंध, भौतिक संकटों और पापवासना का मूल, मानव के स्वतंत्रता की मर्यादा, मनुष्य जन्म की सार्थकता और सफलता, संसार अंधी शक्तियों का खेल है अथवा ईश्वर का नियमित नैतिक शासन है, आदि प्रश्न महत्वपूर्ण हैं, इसका उन्होंने उल्लेख किया है। ईश्वर की इच्छा और शक्ति अनेक साधनों से व्यक्त होती रहती है। मनुष्य की सहजप्रवृत्ति, तर्कबुद्धि, सद्विवेक बुद्धि और धर्मभावना आदि की सहायता से हम उनका स्वरूप जान सकते हैं। इस संबंध में रानडे किसी विशेष धर्मग्रंथ पर निर्भर होकर नहीं रहे। इस संबंध में वे विज्ञान, इतिहास और मनुष्य की अन्तःप्रवृत्ति पर विशेष रूप से निर्भर रहे। बाह्यदृष्टि, मनुष्य का अन्तर्जगत और इतिहास के माध्यम से ईश्वर अपने मन की बात व्यक्त करता है। इसलिये ये सब ईश्वर की योजना के सार्वकालिक और नित्य प्रतीत होने वाले द्योतक हैं, ऐसी रानडे की धारणा थी।[१]

विज्ञान से सृष्टि विज्ञान और मनोविज्ञान इन दोनों का ही बोध होता है। केवल धर्मसंबंधी बातों में ही नहीं बल्कि सामाजिक सुधारों के संबंध में भी उनकी विज्ञानपरता तथा ऐतिहासिक दृष्टि का अनुभव होता है। यदि इतिहास और वैज्ञानिक सिद्धांत हमारी श्रद्धा और आकांक्षाओं के विरुद्ध जा रहे हों तो हमें लक्ष कर उसपर विचार करना होगा, ऐसा उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है।

रानडे ने धार्मिक जीवन में सद्विवेक बुद्धि को सर्वश्रेष्ठ मूल्य माना, साथ ही सामाजिक क्षेत्र के श्रेष्ठ पुरुषों के स्थान को कभी अस्वीकार नहीं किया। लेकिन उनका कहना था कि असाधारण व्यक्ति के प्रति श्रद्धा हमारी विचार शक्ति पर बोझ न बने और कहीं बौद्धिक दासता का कारण न बने, इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिये।

---

1. M.W., P. 115

अज्ञेयवाद, सन्देहवाद, नास्तिकवाद, धर्मनिरपेक्ष ऐहिकवाद आदि तत्व प्रणालियों में उनका विश्वास नहीं था। "हमारे इतिहास में धार्मिक वृत्ति के लिये अन्य कोई बाना नहीं दिखायी देगा। हमारे सामाजिक उत्थान के लिये धर्म, श्रद्धा और आस्तिक बुद्धि का आधार आवश्यक है। अज्ञेयवाद के सिद्धान्त पर हमारी राष्ट्रीय भावना का पोषण संभव नहीं है और इष्ट भी नहीं है, ऐसी रानडे की धारणा थी।"[१] पाश्चात्य विचारकों के ग्रन्थ पढ़कर हमारे युवकों में यदि नास्तिकता की जरा सी भनक लगती थी तो रानडे विचलित हो उठते थे। इसीलिए जब उन्होंने सार्वजनिक सभा की त्रैमासिक पत्रिका में प्रो. सेल्बी के भाषणों पर प्रकाशित पुस्तिका की समीक्षा लिखी तो उसमें उनके स्वभाव की यह विशिष्टता अत्यन्त उत्कटता से प्रकट हुई। डेक्कन कालेज के वार्षिक सम्मेलन में जब आगरकर जी ने यह मत प्रकट किया कि "धर्म के आधार के बिना भी संस्कृति और नैतिक मूल्यों की रक्षा की जा सकती है।" तो रानडे नाराज हो उठे थे। यह तो उनके जीवन शैली के मूलाधार पर ही आघात था। वे मानते थे कि "आधुनिक पाश्चात्य विचारों का अंधानुकरण करने वाले शिक्षित युवाओं को अपनी परम्पराओं और परिस्थिति की पूरी जानकारी नहीं थी। विचारों का आयात तो किसी भी परिमाण में किया जा सकता है लेकिन समाज के पूर्व संस्कार और तात्कालिक आवश्यकताओं का विचार किये बिना जनमानस में उनका प्रेषण नहीं हो सकता।" यह बात हमारे पढ़े-लिखे युवाओं की समझ में नहीं आती इस बात का उन्हें मलाल था। "ईश्वरतत्व अनिर्वचनीय और अकल्पनीय है। ऐसी स्थिति में हमारे नैतिक आत्मानुभव से जो सत्य हमें प्रतीत होता है उसे ही सत्य मानकर उसके अनुसार व्यवहार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। सुसंस्कृत और सुधरे हुये मनुष्य का विकास आजतक ईश्वर के प्रति उसकी श्रद्धा में से ही उपजा है। लाखों में एक ही नास्तिक होते हुए भी नीति का पालनकर्त्ता दिखायी देगा। साधारण मनुष्य को आज भी ईश्वर पर आस्था तथा आधार की आवश्यकता है" ऐसी रानडे की भावना थी।

१. हिन्दू धर्मांचे सर्वसंग्राहक स्वरूप पृ. ९

मनुष्य को पग-पग पर अपनी अपूर्णता और असहायता का आभास होता रहता है। भले ही वह दिन-रात ऐहिक वातावरण में विचरण करता रहता हो, लेकिन मन के किसी कोने में उसे परतत्व स्पर्श की उत्कंठा बनी रहती है। अतः ईश्वर के प्रति श्रद्धाभाव होना मनुष्य के मन और मस्तिष्क की स्वाभाविक आवश्यकता है। ईश्वर साक्षात् प्रकृति नहीं है, इसी प्रकार वह प्रकृति का अव्यक्त बीज तत्व भी नहीं है। जिस प्रकार ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं है उसी प्रकार वह कोई शक्ति भी नहीं है। ईश्वर अनेक भागों में बँटा नहीं है, वह एक ही है। वह चराचर सृष्टि का जनक तथा शासक है। वह सर्वसाक्षी एवं सर्वशक्तिमान है। वह न्यायप्रिय तथा दयामय है, ऐसी रानडे की धारणा थी।

रानडे ने सृष्टि को दो भागों में बाँटा है-(१) मनुष्य की सृष्टि, (२) मनुष्य के अतिरिक्त सचेतन और अचेतन सृष्टि। मनुष्य की आत्मा चैतन्यमय है, अमर है लेकिन वास्तव में ब्रह्मरूप होते हुए भी अज्ञान के कारण स्वयं को अलग मानती है। जीवात्मा का अपना अलग स्वतंत्र अस्तित्व है, ईश्वर की तुलना में वह कनिष्ट श्रेणी का है। उसका अस्तित्व, उसकी गतिशीलता, जीवनक्रम और भविष्य यह सब ईश्वर के अधीन है। उसकी इच्छा और सत्ता से ही सब कुछ होता है। प्रकृति के दृश्य और घटनायें स्वप्रेरित नहीं होती। ईश्वर ही उनका सूत्रचालक है। 'God immanent in nature' का यही भावार्थ है।[१] प्राकृतिक घटनाओं के बाह्यरूप संदेशवाही तार की तरह होते हैं। उनसे संप्रेषित होनेवाले संदेश यदि हम समझ सकें तो हम ईश्वर के अनन्य सेवक बन सकते हैं। अकाल, प्लेग, महामारी, दरिद्रता, दुःख, संकट तो हैं ही। लेकिन उसमें हम जितना सोचते हैं। उससे अधिक अर्थ निहित रहता है। हमें अन्तर्मुख होकर अपने दोष अपनी श्रुतियाँ खोजनी चाहिये और उनका प्रायश्चित करना चाहिये। इस दृष्टि से कोई भी अच्छी या बुरी घटना निरर्थक नहीं होती यह रानडे की दृढ़ श्रद्धा थी। सृष्टि की हर छोटी-बड़ी घटना के पीछे ईश्वर का

1. Religions and Social Reform P. 19

हाथ और हेतु अवश्य रहता है यह मानकर चलने से उसका कार्य कारण भाव खोजने की प्रवृत्ति यदि विकसित हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

मानवजीवन में ईश्वर का शासन दोहरे किस्म का है। वैसे भी मनुष्य सृष्टि की ही सन्तान है। इस दृष्टि से शारीरिक स्तर पर सृष्टि की ही तरह मनुष्य पर भी ईश्वर की सत्ता चलती है। लेकिन मनुष्य के सन्दर्भ में ईश्वरीय शासन की विशेषता उसके नैतिक पहलू में है। मनुष्य को इच्छा स्वातंत्र्य है। उसकी सद्विवेक बुद्धि उसके हृदयस्थ ईश्वर की आवाज है। उसके ही न्याय के अनुसार सुख-दुःख, प्रसन्नता, उद्वेग, सार्थकता, विफलता आदि के रूप में उसे अपने कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं। संसार में अक्सर दुराचारी लोग सुख-चैन से जीवन-यापन करते थे। इसके विपरीत सज्जनों को दुःख और कष्ट सहना पड़ता है। यह देख मनुष्य सहज ही आश्चर्य करने लगता है। लेकिन थोड़ा गहराई से विचार करने पर उसका ईश्वर की नैतिक सत्ता पर से विश्वास नहीं उठ जायगा, यह सम्मति रानडे ने प्रतिपादित की है।

परमार्थ सिद्धि मानव का उच्चतम साध्य है, ईश्वर-भक्ति और मानव मात्र के प्रति प्रेमभाव परमार्थ का प्रमुख साधन है। अपनी उपासना के बल पर ईश्वर का सानिध्य प्राप्त हो, उसकी कृपादृष्टि से पावित्र्य का लाभ हो, उसके अतुल ऐश्वर्य की प्रतीति हो, इसमें ही मानव जीवन की सार्थकता है, रानडे के धर्म चिन्तन का यही सारतत्व है।

रानडे ने मानव की प्रतिष्ठा तथा नैतिक उत्तरदायित्व की ओर जनता का ध्यान बार-बार आकर्षित किया है। उनकी दृष्टि में मनुष्य की विशेषता उसकी इच्छाशक्ति, विवेक क्षमता, आत्मनिर्णय तथा स्वतः शासन में है। हमारे विचार, प्रेरणा प्रयास और सफलता-असफलता का स्वरूप अधिकतर चारों ओर की परिस्थिति के अनुसार निर्धारित होता है। फिर भी मनुष्य परिस्थिति का दास नहीं है। ईश्वर ने मनुष्य को अज्ञान वश अथवा जानबूझकर गलती करने की छूट दे रखी है। लेकिन साथ ही उसके परिणाम भी उसे ही भोगने पड़ते हैं। उनसे ही सीख लेकर वह प्रगति की राह पर आगे बढ़ता है। व्यक्तिगत

उत्तरदायित्व की प्रतीति से अपना कर्तव्य पूरा करने के संकल्प में ही मनुष्य का दैवी अंश अन्तर्निहित है, यही रानडे की दृढ़मान्यता थी।[१]

धर्म और नीति विषयक कल्पनायें मूलतया भिन्न होते हुये भी उनमें दूरी रखना उचित नहीं है-धमनिरपेक्ष नीति की कल्पना उन्हें रूखी, छलपूर्ण और नुकसानदेह लगती थी। नीति का पालन करने में मनुष्य की बाह्यकृति की अपेक्षा उसकी मनोवृत्ति का अधिक महत्व है। हम सब एक ही ईश्वर की सन्तान हैं। अतः एक दूसरे के प्रति प्रेम, सौजन्य और बन्धुत्व का भाव रखना एक प्रकार से ईश्वर की उपासना ही है। इस श्रद्धा से निर्मित नीति सहज ही अकृत्रिम और आशययुक्त रहती है। इसलिये सच्चा धर्म एक ही होना चाहिये। सच्ची नीति एक ही होनी चाहिये।[२]

नैतिकता मनुष्य की विशिष्टता दिखलाने वाला लक्षण है। यदि कभी दो ही व्यक्ति रह जायें तो भी उनमें यह लक्षण दिखायी देगा। यह नैतिक प्रेरणा मनुष्य में प्रारंभ से ही बीजरूप में रहती है। एक बार मनुष्य में नैतिक प्रेरणा का उदय हो जाने पर फिर सत्य-असत्य; पुण्य-पाप; सत्कर्म-दुष्कर्म; वन्द्य-निन्द्य आदि का विवेक करने के साधन के रूप में यह सहज ही महत्वपूर्ण हो उठता है। रानडे की नीतिविषयक मीमांसा का यही भावार्थ है।

धर्मविचारों का सामाजिक आशय

रानडे का चिन्तन और कार्यप्रणाली कल्पना पर आधृत नहीं था। विचारों की शुद्धता पर तो वे विश्वास करते ही थे, साथ ही उन विचारों पर वास्तविक जीवन में क्या प्रतिक्रिया होगी इसका भी वे ध्यान रखते ही थे। विचार और व्यवहार ध्येय और वास्तविकता के बीच समन्वय स्थापित करने की प्रवृत्ति उनके रक्त में रची बसी थी। वे जड़वादी तो नहीं ही थे लेकिन जगन्मिथ्यावाद से भी वे सहमत नहीं थे। वे मानते थे कि ईश्वर द्वारा निर्मित सचेतन और अचेतन सृष्टि यह सत्य है, लेकिन संसार के अनेक पदार्थ और प्रवृत्ति शक्ति

1. Religions and Social Reform P. 21
2. Religions and Social Reform P. 21

और व्यवसाय, इन्हें एक सूत्र में बाधने वाला ईश्वरी शासन है। ईश्वर की इच्छा का अनुकरण करना यही सच्चा परमार्थ है, यही सच्ची उपासना है। ईश्वरोपासना में ईश्वर का व्यक्तित्व केवल कायम ही नहीं रहता, अपितु धीरे-धीरे विकसित होता जाता है। ईश्वर में नैतिक पूर्णत्व की कल्पना कर, उसके गुणों को आत्मसात कर, उसका सान्निध्य प्राप्त करना यही सच्ची परमार्थ साधना है।

सृष्टि के क्रम में तथा इतिहास में ईश्वरी योजना का सूत्र सर्वत्र पिरोया हुआ है और यह योजना मानव कल्याण के लिये ही है, ऐसा रानडे का मानना था। उन्होंने अपने धर्मसंबंधी विचारों में विज्ञान के प्रति निष्ठा, ऐतिहासिक दृष्टि और अन्तःकरण की प्रामाणिकता इन सभी बातों का समावेश किया है। विज्ञान कार्यकारण, भाव को स्पष्ट करता है। अन्तःप्रेरणा का संबंध समाजद्वारा स्वीकृत नैतिक मूल्यों से है। अतः वैज्ञानिक सिद्धान्त और नैतिक मूल्यों में गड्डम-गड्डु नहीं होनी चाहिये। रानडे का विवेचन वस्तुपरक था लेकिन भौतिक एवं ऐतिहासिक घटनाओं का मर्म समझाते समय वे ईश्वरी योजना को कुछ अधिक ही महत्व देते थे। इससे उनके वस्तुपरक विवेचन में निश्चय ही बाधा पहुँचती थी।

हमारे धर्म-चिन्तन में कुटुम्ब भावना का अधिक प्रभाव है। हम परमेश्वर को माता, पिता, बन्धु, सखा आदि रूपों में जानते हैं। इस दृष्टि से उनके शासन में न्यायदृष्टि पर हम कम जोर देते हैं। विश्वव्यापार त्रिगुणात्मक प्रकृति का विलास है। कर्मसिद्धान्त स्वतः सिद्ध है। ईश्वर की इच्छा से उसका कोई संबंध नहीं है।

"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलं संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।"[१]

गीता का यह वचन सर्वश्रुत है। ईश्वरी राज्य की कल्पना का हमारे धर्मविचार में महत्व का स्थान नहीं है। अतः हमारी धार्मिक और सामाजिक परम्परा में नागरीकत्व के एहसास के बजाय पारिवारिक प्रेम की भावना अधिक

१. भगवद्गीता ५-१४

प्रबल है। राज्य एक बड़ा कुटुम्ब है और राजा उसका प्रधान है यह हमारी पारम्परिक कल्पना है। "स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।"[१]

कालीदास की उक्ति का यही अभिप्राय है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" यह वृत्ति हम उदार चरित का प्रमुख लक्षण मानते हैं। "परमेश्वर हमारा माता-पिता, मार्गदर्शक, सहायक है, ऐसा हमें सिखाया गया है लेकिन साथ ही वह एक पवित्र शास्ता, न्यायकर्त्ता और राज्यकर्त्ता स्वामी है इस रूप को हमने अधिक नहीं जाना। इसलिये राजकाज संबंधी बंधनों को अधिक सम्मान देना तथा नियम-कानून और लोकव्यवस्था को पूज्य मानना हमारे स्वभाव में नहीं है।"[२] अपने उद्गारों में रानडे ने यही मत व्यक्त किया है।

रानडे की धर्ममीमांसा, मूलतत्त्वों के संबंध में मौलिक और तर्कसंगत, निर्दोष और स्पष्ट है। किसी भी धर्मविशेष को ध्यान में न रख उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि सभी के लिये प्रेरक हो सकें ऐसे विचारों की प्रस्तुति की है। भारत में हर धर्म के मानने वाले लोगों की परम्पराएं, नीतिविषयक नियम और आचार-विचार भिन्न-भिन्न हैं। इतना ही नहीं बल्कि उसके साथ उनकी धर्मश्रद्धा भी जुड़ी हुई है। लोगों की धर्मभावना को आघात न पहुँचे इस बात का वे समुचित ध्यान रखते थे। इसलिये हर प्रश्न का विश्लेषण करते समय उन्होंने समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया।

यह विशेषता उनके उदारमतवाद के सन्दर्भ में भी स्पष्ट दिखाई देती है। धर्मनिष्ठा तथा समन्व्यवादी दृष्टि से परिपूर्ण न्याय रानडे ने भारत के उदार मतवाद को पहली बार एकसूत्र में पिरोकर तथा सभी दृष्टियों से जाँच-परख कर प्रस्तुत किया। इंग्लैण्ड के अभिजात व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र के मूलतत्व, यूरोप की आधुनिक ऐतिहासिक आलोचना पद्धति और भारत की सांस्कृतिक परम्परा पर गर्व उनकी सामाजिक विचार पद्धति में घुलमिल गया था। लॉक, ह्यूम, बेंथॅम, ऍडम स्मिथ आदि के विचारों से पश्चिम के देशों में सामाजिक, राजनीतिक

---

१. रघुवंश १-२४

२. हिन्दू धर्माचे सर्वसंग्राहक स्वरूप, पृ.२०

तथा आर्थिक प्रश्नों का अध्ययन प्रारंभ हुआ। रानडे ने इंग्लैण्ड के अभिजात अर्थशास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन किया था। व्यक्ति स्वयं में मूल्य है। समाज के सारे व्यक्ति सिद्धान्त रूप में एक समान हैं। रूढ़ि के बजाय क़रार, सख़्ती के बजाय सहमति के सिद्धान्त पर सामाजिक व्यवस्था को निर्मित करना केवल व्यक्ति के लिये ही पोषक नहीं अपितु समाज के भी हित में है ये विचार उन्होंने व्यक्तिवादी समाज चिन्तकों के ग्रंथों से लिये। अतः सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण करते समय उन्होंने सापेक्षता और अनुरूपता के सिद्धान्त (The Law of relativity and correspondence) को नज़रअंदाज़ नहीं किया।[१]

विविध विचारधाराओं का तुलनात्मक परीक्षण कर हमारे देश की परिस्थिति और समस्या के लिये कौन से सिद्धान्त उपयुक्त होंगे, इसका उन्होंने निरपेक्ष दृष्टि से विचार किया। लेकिन केवल ऐतिहासिक पद्धति का अनुकरण कर उन्होंने इतिहासवादी जर्मन सम्प्रदाय की तरह तात्विक विचारों की उपेक्षा नहीं की। केवल ऐतिहासिक पद्धति पर निर्भर रहकर सैद्धान्तिक पद्धति का समर्थन करना उन्हें पसन्द नहीं था। उन्होंने इन दोनों में समन्वय स्थापित किया। इसीलिये उनके विचार ठोस और वास्तववादी नींव पर खड़े हैं।

सन् १८९६ ई. में डिक्कन सभा की स्थापना के अवसर पर जो घोषणापत्र जारी किया गया था। उसमें रानडे ने अपने विचार एक सूत्र में पिरोकर प्रस्तुत किये। यद्यपि यह घोषणापत्र राज़नीतिक दिशा का निर्देष करने के लिये तैयार किया गया था, फिर भी इसमें उनके सामाजिक जीवनदृष्टि का भी दर्शन होता है। जाति, धर्म, वंश, पंथ आदि के संकुचित अभिमान एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच न्याय के सिद्धान्त पर संबंध स्थापित हों तथा इसके लिये जो कुछ भी करना आवश्यक हो वह सब दृढ़कर्तव्य भावना से हो, यह संकल्प इन दो धाराओं में अन्तर्निहित है।[२] कानून के तहत आनेवाली

---

1. Essays on Indian Economics P. 1
2. Deccan Sabha Manifesto, 1896

शान्ति और व्यवस्था राज्य की सामाजिक प्रगति के लिये हितकर है, ऐसा रानडे का विश्वास था। कानून का पालन करने का उत्तरदायित्व पूरी कार्यक्षमता से तथा बिना किसी रुकावट के पूरा किया जाय तथा इसके लिये प्रशासन को पूरा सहयोग प्रदान किया जाय, यह नागरिकों का कर्तव्य है, इसी भावना के कारण रानडे ने राजनिष्ठा का आग्रह किया। साथ ही शासन की ओर से भी प्रजा को न्याय और समानता का अधिकार मिलना चाहिये। और यदि आवश्यक हुआ तो जनता को उसे प्राप्त करने के लिये कानूनी लड़ाई लड़नी चाहिये यह मत भी उन्होंने व्यक्त किया। ये उदार मतवादी थे और यही उनकी कार्यपद्धति का सिद्धान्त था।[१] लोकजागृति की प्रारंभिक अवस्था में आन्दोलन को कितना लाभ हुआ। यह प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना यह कि सामाजिक प्रश्नों के प्रति लोगों के मन में आस्था निर्माण हो इसके लिये संगठित रूप में वे कितने प्रयासरत हुए। इस प्रकार इस घोषणापत्र से उन्होंने अपने उदारमतवादी विचारधारा का स्थूल रूप में दिग्दर्शन किया।

न्याय. रानडे देशप्रेमियों में अग्रणी थे। उनकी दृष्टि राष्ट्रीय थी। रानडे के सर्वाधिक प्रिय शिष्य गोखले ने उन्हें देशभक्त और राष्ट्रपुरुष की संज्ञा दी है। उन्होंने देश-सेवा और सेवाकार्य को ही अपना धर्म मान लिया था। अपने देश की दुर्दशा समाप्त हो और उसे पहले जैसा वैभव और गौरव कैसे प्राप्त हो। इसी बात की उन्हें रात-दिन चिन्ता रहती थी।[२] रानडे की वृत्ति में कहीं भी भड़कीलापन नहीं था, फिर अपना मत दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत करने में उन्हें कभी भी हिचकिचाहट नहीं होती थी। ब्रिटिशराज को वे वरदान स्वरूप मानते थे। इससे कुछ लोग उन्हें अंग्रेजों का पिट्ठू समझकर उनकी आलोचना करते थे। लेकिन उनकी यह आलोचना कितनी अनुदार और अवास्तविक थी इसकी कल्पना उनके लेखों और भाषणों को पढ़कर होती है। संसार के किसी भी देश की अपेक्षा भारत की परम्परा अधिक सत्वसम्पन्न और वैभवशाली है। हिन्दू और

---

1. Deccan Sabha Manifesto, 1896
2. Speeches and writings of Gokhale, Vol.III, P. 284

बौद्ध इन दो श्रेष्ठ धर्मों का उदय इसी भूमि में हुआ। इन दो धर्मों ने देशवासियों को करुणा, आग्रह न करना, समन्वयवादी दृष्टिकोण, उदारता, सबका समावेश करने जैसे महान तत्वों की दीक्षा दी। अतः बाहर से आये विभिन्न धर्मों और वंशों के लोग यहाँ सदियों तक निश्चिन्त होकर रह सके। संसार की अन्य महान संस्कृतियों की तरह हमारी संस्कृति उन्नति का शिखर छू कर छिन्न-भिन्न नहीं हुईं। बल्कि भिन्न-भिन्न धर्मों की अच्छी बातें ग्रहण कर वह पहले से भी अधिक समृद्धि हुई। मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में विभिन्न पंथों और स्वयंतुष्ट और टूट-फूट की प्रवृत्ति से पनपी यह संस्कृति भीतर से खोखली अवश्य हुई लेकिन उनका जीवनतत्व पूरी तरह लुप्त नहीं हुआ। इसीलिये वह मुस्लिम आक्रमणों की अग्निपरीक्षा का सामना कर सकी। सौभाग्य से हमें अब संसार के अत्यन्त प्रगतिशील और शक्तिशाली राष्ट्र का नेतृत्व प्राप्त हुआ है। उससे हमें नये युगधर्म की शिक्षा प्राप्त हो रही है। इसलिये इस अपूर्व अवसर का जितना हो सके उतना लाभ उठाकर हमें अपना सामर्थ्य बढ़ाना चाहिये। यही रानडे का दृष्टिकोण था। "जहाँ के नागरिकों में प्रबल आशावाद है तथा उत्कट और अटल कर्तव्यनिष्ठा है, न्यायबुद्धि समुचित समता पर अधिष्ठित है, बुद्धि शुद्ध और निर्लेप है, समस्त व्यक्तिमात्र की प्राकृतिक शक्ति पूर्णरूप से विकसित हो चुकी है और जहाँ की जनता में समस्त मानवजाति के प्रति अपार प्रेम भावना है, ऐसा यह हमारा नवचैतन्य युक्त भारत संसार के राष्ट्रों में सम्मान का स्थान प्राप्त करेगा और अपनी वर्तमान समस्या पर नियंत्रण प्राप्त कर अपनी कल्पना साकार करने में समर्थ होगा, इस दृढ़विश्वास से वे कार्य कर रहे थे।"[१]

चिपळुणकर और तिलक रानडे के समकालीन महान देशभक्त थे। चिपळुणकर ने अपनी ओजस्वी और धारदार शैली में अंग्रेजों के धर्म, भारत के प्रति उनके दृष्टिकोण, उनकी शासन पद्धति आदि पर अपनी लेखनी से तीखे प्रहार किये और इस प्रकार अपनी भाषा, इतिहास और संस्कृति का सम्मान करते हुये लोगों के मन से हीनभावना को दूर किया। उन्हें देशाभिमान जागृत

1. M.W., P. 179

करने की शिक्षा दी। रानडे का लेखन चिपळुणकर की तरह भावनाप्रधान और आक्रामक नहीं था। लेकिन इससे उनकी देशभक्ति को कम नहीं आँका जा सकता। बार-बार अंग्रेजों का निषेध करने की अपेक्षा अपने समाज की आन्तरिक शक्ति को बढ़ाना उन्हें अधिक श्रेयस्कर लगा। 'Politics is the game of the possible' राजनीति संभव-असंभव का खेल है यह बिस्मार्क की तरह रानडे का भी विचार था।[१] नवशिक्षित उच्चवर्णियों का पाश्चात्य संस्कृति से सम्पर्क के कारण नवशिक्षित विशेषत: उच्चवर्णिय भारतीय आधुनिक जीवनमूल्यों से भली-भाँति अवगत हो गये थे परन्तु इसे वैचारिक जागृति तक ही सीमित नहीं रखना था अत: सामाजिक प्रबोधन की आवश्यकता को समझकर रानडे ने इस वर्ग को अपने साथ लेकर देश के सर्वांगीण विकास के लिये प्रयास करने को प्रवृत्त किया।

सामाजिक जीवन का सातत्य और परिवर्तन

स्वभाव से ही उदार और संयमी रानडे के स्वभाव में किसी भी प्रकार की जिद या अतिरेक का स्थान नहीं था। इसलिये उन्होंने न ब्रिटिश शासकों के आगे घुटने टेके और न उनपर प्रखर राष्ट्रवादियों की तरह टीकाओं के कोड़े बरसाये। प्राचीन परम्पराओं और आधुनिक मूल्यों का समन्वय करने की ओर भी उनकी दृष्टि थी। पुराने संस्कारों को एक ही झटके में उतार फेंकना संभव नहीं है। नया कुछ भी कितना ही स्वागतयोग्य क्यों न हो लेकिन वह एकाएक आकाश से नहीं टपकता। उसी प्रकार पुराना कितना ही जीर्ण-शीर्ण क्यों न हो लेकिन वह एकाएक पृथ्वी में समा नहीं जाता। इस बात का ध्यान आगरकर सरीखे जुझारु वृत्ति के सुधारक को भी रखना पड़ा, अपनी मूल प्रवृत्ति अर्थात् भारतीय आर्यत्व का त्याग किये बिना ही सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाने की उनकी प्रतिज्ञा थी। जनता के मन पर परम्परा का प्रबल प्रभाव था। उस परम्परा पर प्रहार किये बिना पुरानी रूढ़ियों की अनीति और अमानवीयता के प्रति रोष अथवा तिरस्कार पैदा किये बिना लोग अपने गर्दन

1. Ranade, Gandhi & Jinnah P. 45

पर रक्खा जुआ फेंकने के लिये तैयार नहीं होंगे। ऐसा आगरकर का मत था। इसलिये उन्होंने विशुद्ध बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाया और अपने "सुधारक" में प्राचीन विचारधारा एवं रीति-रिवाजों का कड़े शब्दों में निषेध किया। लेकिन रानडे को यह सब अनुचित और अनावश्यक लगा। अपनी पूर्व परम्पराओं को हम इस प्रकार तोड़ना भी चाहें तो वह संभव नहीं है और अभीष्ट भी नहीं है क्योंकि हमारी यह विरासत सम्पन्न और स्फूर्तिदायक है। इस परम्परा का वारिस कहलाने में हमें लज्जा नहीं होनी चाहिये ऐसी रानडे की भावना थी।[१] परम्पराभिमान के संदर्भ में रानडे मिल जैसे उदारमतवादियों की अपेक्षा एडमन्ड बर्क के अधिक निकट हैं। "सुधार के लिये हम जो स्वीकार करते हैं वह कभी पूरी तरह नया नहीं होता। उसी प्रकार पुराने में से जिसे हम सहेज कर रखते हैं वह भी पूरी तरह लुप्त हुआ नहीं रहता।" बर्क की इस उक्ति का सार रानडे के समन्वयवाद में निहित है।[२]

रानडे के अनुसार सुधारक का कार्य कोरी स्लेट पर नये सिरे से लिखना न होकर पहले से लिखे अधूरे मज़मून को पूरा करने जैसा है। वास्तविक जीवन की कुरूपता, विशमता और कमी देखकर मन में आदर्श जीवन का चित्र उभरने लगता है। सुधारक अन्तराल या शून्य में आदर्श का निर्माण नहीं कर सकता। वास्तविक जीवन में वास्तविकता के आधार पर ही उसे अपनी कल्पना के अमूर्त को आदर्श का मूर्त स्वरूप देना पड़ता है।"[३] हिन्दू समाज रूढ़िप्रिय है लेकिन उसकी वही रूढ़िनिष्ठा, परम्पराभक्ति एक तरह से उसका शक्तिस्रोत है। अपनी परम्परा का उचित अभिमान करना जीवन्तता का लक्षण है। हिन्दुओं की सामाजिक परम्पराएँ प्राचीन धर्मशास्त्र पर आधारित हैं। रानडे भी इन धर्मग्रन्थों का सम्मान करने के पक्ष में थे। लेकिन अत्यन्त अमानवीय और दुष्ट रूढ़िवाद का समर्थन भी किसी न किसी शास्त्रवचन से किया जाता है। यह भी वे देख रहे थे। हमारे देश में स्मृतिग्रन्थ भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-

1. M.W., P. 118
2. Reflections on the Revolution in France, P. 37
3. M.W., P. 118

भिन्न दृष्टिकोण से लिखे गये। उन वचनों को खींच-तान कर तार्किक कसरत करने से विश्लेषण करने की शक्ति क्षींण हो जाती है। उन्होंने शास्त्रग्रंथों का आधार लेने से इन्कार नहीं किया लेकिन ऐसा करते समय अपनी विवेकबुद्धि को जागृत रखने का उन्होंने संकेत किया।

पुनरुत्थान-परिवर्तन-क्रांति के संबंध में रानडे के विचार संतुलित थे। अपनी प्राचीन परम्पराओं के प्रति रानडे जी के मन में आदरभाव था, लेकिन उन्हें पुनरुत्थान के प्रति आकर्षण नहीं था। भारत के पुनरुत्थानवाद के मूल में निहित जीवनदृष्टि आध्यात्मिक थी। आत्मा और शरीर की ही तरह समाज के चैतन्यमय और बाह्यरूप में परस्पर संबंध है। आत्मा जड़ शरीर का त्याग करे या दूसरा शरीर धारण कर ले तो इससे उसके मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। बाह्य परिवर्तन का कोई महत्व नहीं है। हमें सदा शाश्वत अविकारी आत्मतत्व का ही अनुसंधान करना चाहिये। जीवन के मूलतत्व त्रिकालबाधित एवं अपरिवर्तनीय होते हैं। वैदिककाल के हमारे मन्त्रद्रष्टा ऋषि-मुनियों से वे पूर्णरूप से अवगत थे। समाज धारणा के लिये उनके द्वारा बताये हुये धर्म और निर्धारित की हुई व्यवस्था का पालन करने में ही हमारा व्यक्तिगत और सामाजिक हित है। वैदिकधर्म और परम्परा केवल पारमार्थिक कल्याण के लिये ही नहीं, अपितु ऐहिक अभ्युदय के लिये भी उपकारी है। उन उच्च आदर्शों से हमारे पतन के कारण ही सभी ओर हमारी अधोगति हुई। यदि देश को अब पहले जैसी उर्जितावस्था प्राप्त करनी है तो हमें मूल वैदिक परम्परा का पुनरुत्थान करना होगा ऐसी एक विचारधारा उन दिनों चल रही थी। रानडे इस विचार से सहमत नहीं थे। उन्होंने प्राचीन परम्पराओं का सम्मान अवश्य किया लेकिन वेदकालीन आचार-विचार बिलकुल निर्दोष और परिपूर्ण थे ऐसा उन्होंने कभी नहीं माना। उसके बाद मध्यकाल में तो अनेक अपप्रवृत्तियाँ हमारे समाज में रूढ़ हो गयीं। इसके अलावा हमारी धार्मिक और सामाजिक परम्परा का कालपट बहुत विशाल है। अतः किस कालविशेष में कौन सी परम्परा शुद्ध और निर्दोष थी, इसका निर्णय करना कठिन है। नरमेध, सती, बालहत्या,

बहुपत्नी प्रथा, नियोग आति का किस प्रकार पुनरुत्थान करेंगे? ये आचार अनिष्ट और सच्ची धर्मभावना के लिये बाधक न होते तो हमारे पूर्वजों को उनका त्याग करने की आवश्यकता कभी महसूस न हुई होती। वास्तव में बीती हुई बातों का पुनरुत्थान प्रकृति के नियमों के अनुकूल नहीं है। सामाजिक जीवन प्रवाही और परिवर्तनशील होता है। निष्प्राण शरीर में पुनः चैतन्य लाना संभव नहीं है। सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उसे जलाना या गाड़ना ही उचित है। जो काल के उदर में चला गया उसे पुनः उभारा नहीं जा सकता।[१] सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अधीर होने से काम नहीं चलता। अधीर होने से सुधारों की स्वाभाविक गति में तो परिवर्तन नहीं ही होता, अलबत्ता कार्यनाश होने की संभावना रहती है। किसी वृक्ष के स्वाभाविक विकास की तरह समाज का विकास भी मन्द और धीरे-धीरे होता रहता है और ऐसा होने से ही उसकी निश्चितता बनी रहती है।[२]

इसके साथ ही क्रांति के प्रति रानडे के मन में एक प्रकार का भय था। इससे विध्वंस की प्रवृत्तियों को बल मिलता है, सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। समाज में प्रस्थापित हितों को बिना आघात पहुँचाये लोगों को सुधारवादी संस्कार देकर उनके जीवन को नयी दिशा दी जा सकती है, इस श्रद्धा पर रानडे का सुधारवाद का कार्यक्रम खड़ा था। लेकिन प्रकृति का कारबार शांत गति से चलता है, यह रानडे का विचार वस्तुस्थिति से मेल नहीं खाता। प्रकृति में क्रम-विकास भी है और उत्पात भी है। भूचाल, तूफान, प्रलय आदि बातें कहीं न कहीं घटती ही रहती हैं। सृष्टि के क्रम में निर्माण है तो विनाश भी है। इसलिये प्रकृति को क्रांति स्वीकार नहीं है यह कहना ठीक नहीं है। परन्तु, जो भी हो रानडे की सहज प्रवृत्ति इसे स्वीकार नहीं कर पाती थी। इसके अतिरिक्त क्रांति का अर्थ विध्वंस नहीं बल्कि रूढ़ व्यवस्था के स्थान पर नयी न्यायोचित व्यवस्था की स्थापना है। रानडे का भी उद्देश्य यही था।

---

1. M.W., P. 191
2. M.W., P. 117

परन्तु उद्विकास का मार्ग ही उन्हें रुचिकर था। किसी भी प्रकार के अतिवाद से मुक्त रहना उनकी दृष्टि में श्रेयस्कर था। व्यक्ति एवं समाज के संबंधों के संदर्भ में भी उनका यही मत था। व्यक्ति को महत्वपूर्ण मानते हुये भी वे व्यक्ति के स्थायित्व एवं समाज के जीवन प्रवाह के स्थायित्व को स्वीकार करते थे। वे मानते थे कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता। सामाजिक संबंधों से ही उसका व्यक्तित्व खिलता है।

मनुष्य को व्यक्ति के रूप में मुक्त करने से ही समाज का कोई हित नहीं होगा। व्यक्तियों में जिस प्रकार परस्पर सुसंवाद होता है। उसी प्रकार संघर्ष भी उत्पन्न होता है। यदि कोई व्यक्ति स्वैराचार करता है तों इससे केवल उसकी ही हानि नहीं होती, बल्कि उसकी अप्रतिबन्धित स्वतंत्रता दूसरों के सुख के भी आड़े आती है। इसलिये समाज की सुस्थिति के लिये व्यक्ति स्वातंत्र्य पर भी प्रतिबन्ध लगाने चाहिये। यह बाद उदारमतवादियों ने भी स्वीकार की थी लेकिन ये प्रतिबंध कम से कम तथा व्यक्ति निरपेक्ष हों, वे न्याय पर आधारित हों तथा उन्हें सभी पर समान रूप से लागू किया जाय यही उनका आग्रह था। रानडे ने इस विचारधारा का पूरी तरह समर्थन किया। यद्यपि पुराने बन्धन हटाते समय कहीं हमारी दीर्घकालीन परम्परा बिल्कुल ही ध्वस्त न हो जाय, समाज व्यवस्था ढीली न हो जाय, इसका ध्यान रखा जाना चाहिये।

रानडे के व्यक्तित्व पर सभी उदारमतवादियों की गहरी छाप पड़ी। व्यक्ति और समाज के हितों में परस्पर संबंध स्थापित करने के लिये उन्होंने भी कानून, स्पर्धा और नैतिकता की आवश्यकता का समर्थन किया। हालांकि इसमें भी उनका तारतम्य है। उपयुक्ततावादियों ने मनुष्य के सुख का ही विचार किया। उन्होंने विवेकबुद्धि, ध्येय के प्रति आसक्ति, कर्तव्य भावना और न्यायप्रियता जैसी बातों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया ऐसी रानडे की शिकायत थी। मनुष्य के मनोविकार सदा मिश्र प्रकृति के रहते हैं। मनुष्य प्रकृति के ही प्राणी सृष्टि का हिस्सा है। उसमें भी भूख, प्यास, कामवासना आदि विकार होते हैं। उनकी तृप्ति के लिये वह आमरण प्रयत्नशील रहता है। अधिकतर प्रौढ़ और समझदार

लोग क्षणिक वासना के शिकार नहीं होते हैं। हमारा शरीर और मन स्वस्थ्य बना रहे, अपने बंधु-बांधवों के सुख-दुःख से हम समरस हो सकें, समाज में हमारी प्रतिष्ठा हो, ऐसी उनकी इच्छा रहती है। मनुष्य समूह में रहने वाला प्राणी है। समाज के एक अंग के रूप में, संगठित रूप में उन्नत जीवन जीने की उसकी लालसा रहती है। दूसरे के प्रति उसके मन में आदर, सहानुभूति तथा अनुकम्पा रहती है। वह मैत्री और सद्भावना का भूखा रहता है। सामाजिक एहसासों से उसकी कर्तव्यनिष्ठा जागृत होती है। इसीलिये हमें समाज कल्याण के लिये अपना सर्वस्व लुटाने वाले लोग दिखायी देते हैं। मनुष्य की इन सद्भावनाओं और कर्तव्यनिष्ठा का पोषण हमारे चारों ओर की सामाजिक परिस्थिति से ही होता है। प्राकृतिक विकार, सुसंस्कृत स्वार्थ, उदार सहानुभूति और निरपेक्ष कर्तव्यनिष्ठा, इन वृत्तियों से संवाद साधने का उत्तरदायित्व सामाजिक संस्थाओं पर तथा समाज के नेताओं पर है ऐसी रानडे की धारणा थी। कानून और स्पर्धा के माध्यम से यह संभव हो सकता है, लेकिन उसकी भी अपनी सीमा है। इसलिये यदि समाज में वास्तव में ही सुधार लाना है तो मनुष्य में ही परिवर्तन आना चाहिये। यह काम अत्यन्त कठिन है। विचारों का या व्यवहार की चौखट तैयार करना, कोई यंत्र बनाना, मकान बनाना आदि बातें हम जिस पद्धति से करते हैं, उससे मनुष्य का निर्माण नहीं हो सकता।[1] आत्मोन्नति की प्रेरणा की स्फूर्ति उसके हृदय में होनी चाहिये। अपने सुधार के लिये रूढ़ि के बन्धनों से स्वयं को मुक्त करने के लिये तथा सामाजिक दायित्व समझकर अपने स्वार्थों पर अंकुश लगाने के लिये व्यक्ति को स्वयं ही उद्यत होना चाहिये।[2] समाज के सर्वांगीण विकास के लिये व्यक्ति को अन्तर्मुख बनाकर उसकी उदात्त भावनाओं का पोषण और संवर्द्धन करना चाहिये, ऐसी रानडे की अपेक्षा थी।

शासन के वास्तविक कार्यक्षेत्र के संबंध में रानडे के विचार इंग्लैण्ड के उदारमतवादियों से भिन्न थे। सरकार आर्थिक क्षेत्र में तटस्थता की नीति

---

1. Religions and Social Reform P. 151-152
2. M.W. P. 208, 99

अपनाये ऐसा इंग्लैण्ड के व्यक्तिवादी अभिजात अर्थशास्त्रियों का आग्रह था। विदेशी आक्रमणों से राष्ट्र की सुरक्षा करना, देश के अन्दर शांति और सुरक्षा रखना, निष्पक्ष न्याय सुलभ कराना यह किसी भी शासन का परम कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त शासन को अन्य कोई दायित्व स्वीकार नहीं करना चाहिये। देश के सारे व्यवहार किसी न किसी कानून के अन्तर्गत चलते रहते हैं। निजी संपत्ति और अनुबन्धों (करार) की पवित्रता, व्यवसाय और संचार की स्वाधीनता, मुक्त स्पर्धा आदि तत्वों पर आधृत हुये बिना व्यक्तिगत स्वार्थ और समाजहित एक दूसरे के पूरक नहीं हो सकते। इसलिये शासन को ऐसे नियम-कानून बनाने चाहिये जिससे व्यक्ति और समूहों की अध्ययनशीलता को प्रोत्साहन मिले। उदाहरणार्थ-ठेकेदारी प्रथा समाज के हित में नहीं है। इसलिये जहाँ यह अनिवार्य हो वहाँ सरकार को उचित ध्यान रखना चाहिये। अन्य क्षेत्रों में मुक्त स्पर्धा को प्रोत्साहन देने से काम चल जायेगा। शासकीय नियंत्रण से आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न होगी, ऐसी विचारधारा इन अर्थशास्त्रियों की थी। लेकिन उदारमतवाद के प्रमुख तत्वों को स्वीकार कर लेने पर भी यूरोप के अनेक विचारकों ने अभिजात अर्थशास्त्र के इन निष्कर्षों को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया। मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उनका विरोध था। स्पर्धा के चलते व्यक्ति अथवा समूह की सुप्त शक्ति प्रकट होती है और उसका विकास होता है। लेकिन यह स्पर्धा एक ही स्तर के घटकों में होनी चाहिये। प्रबल और दुर्बल के बीच की असीमित स्पर्धा प्रायः दुर्बलों के लिये ही सिद्ध होती है। इसलिये ऐसी स्पर्धा से रक्षा करने के लिये शासन को आगे आना चाहिये। जर्मन अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट ने भी इसी बात का प्रतिपादन किया है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी यह व्यवस्था मान ली थी। विभिन्न उद्योगों का समान रूप से विकास साधने के लिये उन देशों को शुरुआती दौर में ही दक्षता लेनी चाहिये, यही लिस्ट के राष्ट्रवादी अर्थशास्त्र का आशय है। सामुदायिक हित की दृष्टि से शासन को हस्तक्षेप करना चाहिये, इस बात को मानने वालों का झुकाव धीरे-धीरे श्रमिकों के संगठित कार्य पर जोर देने वाली समाजवादी

विचारधारा की ओर होने लगा। स्टुअर्ट मिल भी अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में समाजवाद की ओर आकृष्ट हुए।

रानडे ने औद्योगिक परिषद् में सरकार से यहाँ के उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने की माँग की। मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के प्रति उनका रवैया उतना अनुकूल नहीं था। उनका झुकाव समाजवाद की ओर नहीं, बल्कि फ्रेडरिक लिस्ट के राष्ट्रवाद की ओर है। स्पर्धा और अनुबन्धों (करार) की अपेक्षा यहाँ परम्परा और जन्मजात प्रतिष्ठा का अधिक प्रभाव है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दि में इंग्लैण्ड के शासकों ने व्यापार की अभिवृद्धि के लिये अनेक सुरक्षात्मक उपाय ढूँढे। भारत को भी आज ऐसे ही उपायों की आवश्यकता है, अतः शासन का कार्यक्षेत्र सुरक्षा, शांति और सुव्यवस्था तथा न्यायदान तक ही सीमित नहीं है। खेती और उद्योगधन्धे आदि क्षेत्रों में जहाँ व्यक्ति और समूहों के प्रयास अधूरे सिद्ध होते हों वहाँ सरकार को उनकी सहायता करने के लिये आगे आना चाहिये, औद्योगिक क्रांति का नेतृत्व संभालना चाहिये। आजकल शासन के इस कर्तव्य के बारे में समाजचिन्तकों को एहसास होने लगा है।[१] यही रानडे का मन था। निश्चित रूप से श्रेयस्कर और स्वागतयोग्य इस मत को प्रतिपादित रानडे ने कल्याणकारी शासन का अनुमोदन किया।

राजनियमों का विरोध करनेवालों के आक्षेप और निराकरण

सुधारवादी पक्ष का उद्देश्य परम्परा और रूढ़ अधिकार भेद पर आधृत प्राचीन कुटुम्ब व्यवस्था को बदलकर स्वातंत्र्य और सहमति के तत्वों पर आधारित पारिवारिक संबंधों की पुनर्रचना करना था। अतः विद्यमान कुटुंब व्यवस्था के कारण स्त्रियों पर हो रहे अन्यायों का उन्मूलन करने के लिये देश के सुसंस्कृत और जिम्मेदार लोगों द्वारा सुझाये हुये सुधारों को सरकार कानून का अनुमोदन कर प्रोत्साहन दे, ऐसा सुधारकों का आग्रह था। बलशाली लोगों के जुल्म और जबर्दस्ती से दुर्बलों का संरक्षण करना शासन का कर्तव्य

1. Essays on Indian Economics, P. 37

है इस तत्व का यूरोप के व्यक्तिवादियों ने अनुमोदन किया था। वहाँ महिला मजदूरों के सुरक्षा की माँग बढ़ रही थी। कारखानों में रोजगार के कारण महिलाओं को स्वतंत्र रूप से अर्थार्जन करने का अवसर पहली बार प्राप्त हो रहा था। लेकिन भारत में किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता न होने के कारण उन्हें कानून से किसी भी प्रकार के नुकसान की संभावना नहीं थी। इसलिये यहाँ के लोगों ने कानून की माँग का समर्थन किया।

इस कानून का विरोध करने वालों के अपने अलग तर्क थे। उनका कहना था कि हमारे सपनों को साकार करने के मामले में विदेशी सरकार से मदद लेने में खतरा है। इससे हमारी गुलामी की जंजीरे और भी अधिक कस जायेंगी। ऐसे लोगों की बातों का रानडे ने समय-समय पर खंडन किया है। भारत में प्राचीनकाल में स्त्री-शिक्षा, प्रौढ़-विवाह, पुनर्विवाह आदि प्रथायें प्रचलित थीं। विदेशी सरकार को हमारे धर्म और रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप न करने देने संबंधी बात में सत्य का कुछ अंश तो है ही, लेकिन ब्रिटिश शासन में प्राचीन रूढ़ियों को कानून का समर्थन पहले ही मिल चुका है और उसके अनुसार न्यायालयों में न्यायदान हो रहा है। इसलिये जबतक इन नियमों को वापस नहीं लिया जाता तब तक स्त्रियों पर होने वाला अन्याय समाप्त नहीं होगा। अंग्रेजों का शासन यहाँ अभी दीर्घकाल तक चलता रहेगा ऐसा लगता है। अतः यदि हम सरकारी हस्तक्षेप को निषिद्ध मान लें तो हम सामाजिक सुधार के एक महत्वपूर्ण साधन से वंचित हो जायेंगे। देश के प्रगतिशील, विवेकपूर्ण तथा समाजाभिमुख नागरिकों का सामर्थ्य और बुद्धि, सहृदयता तथा उदारता आदि के संगठित और प्रातिनिधिक आविष्कार का उत्तरदायित्व सरकार का है।[१]

इस संबंध में सम्मान्य नेताओं को पहल करनी चाहिये। जिनपर अन्याय हुआ है ऐसी स्त्रियाँ सामाजिक कार्यों में स्वयं स्फूर्ति से आगे नहीं आती, यह सच है लेकिन इसमें आश्चर्य करने जैसी बात नहीं है। अमेरिका के गृहयुद्ध में अनेक गुलाम उनकी स्वतंत्रता के लिये लड़नेवाले लिंकन के विरुद्ध दक्षिण

1. M.W., P. 78

पंथियों की ओर से लड़े थे। अन्याय की रुढ़ियों का सबसे शर्मनाक और उद्वेग जनक परिणाम यही है। इसमें दलितों का इतना अधिक पतन हो जाता है कि उनमें अत्याचारी अधिकारियों के तलुवे चाटने की होड़ सी लग जाती है। इसलिये समाज के पढ़े-लिखे वर्ग को, दलितों को उनके ऊपर होने वाले अन्याय का अहसास कराकर उनका स्वाभिमान जागृत करना चाहिये, ऐसी रानडे की विचारधारा थी। किसी भी सुधार के लिये यदि जनमत जरा सा भी अनुकूल न हो तो केवल कानून से काम नहीं चल सकता। सुधार का कार्यक्रम आम जनता की सहमति तथा सहयोग से ही पूरा होना चाहिये। हाँ, जहाँ मत परिवर्तन के अन्य उपाय कमजोर पड़ रहे हों अथवा असफल होते दिखायी दे रहे हों तो वहाँ कानून की सहायता लेने में क़ोई हर्ज नहीं है। रानडे जी यही बात लोगों को समझाना चाहते थे।[१]

रानडे जी ने अपना सामाजिक सुधार का कार्यक्रम अन्त तक सतर्कता-पूर्वक और संग्राहक वृत्ति से चलाया। अपनी विचार शैली और कार्यपद्धति पर उन्हें अचूक विश्वास था। कार्यपद्धति निर्दोष और फलदायी हो इसके लिये वे आवश्यक सावधानी से काम लेते थे। भारत एक विशाल देश है जहाँ विभिन्न धर्म और वंश के लोग रहते हैं। हिन्दू समाज ही कई प्रान्तों, जातियों और पंथों में बँटा हुआ है इनमें हर जनसमूह की अनेक समस्यायें थीं। उनके सुधार के लिये कार्य करनेवाली संस्थाओं को रानडे ने प्रोत्साहन दिया। स्त्री-शिक्षा, पुनर्विवाह जैसी समस्याओं पर कार्य करने वाली संस्थाओं के कार्य में उन्होंने सहभागिता की। इन संस्थानों का कार्य सीमित था। उनसे परस्पर संबंध स्थापित करना भी सरल नहीं था। फिर निष्ठापूर्वक काम करने वालों की भी कमी थी और वे इधर-उधर बिखरे हुये थे। अतः रानडे विभिन्न प्रान्तों के तथा विभिन्न जातियों के लोगों को सामाजिक परिषद के अखिल भारतीय मंच पर बुलाने लगे तथा भाषाई और जातीय भेद से उत्पन्न परायेपन और टूट-फूट को दूर करने का प्रयत्न करने लगे। राष्ट्रीय कांग्रेस और सामाजिक परिषद के अधिवेशन

1. M.W., P. 137, 113

एक ही स्थान पर आयोजित होते थे। सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजी शासन था। अत: सबके अधिकार और शिकायतें प्राय: एक जैसी हैं इसका एहसास सबको था। विदेशी सरकार से अधिक से अधिक अधिकार और सुविधायें प्राप्त करना सबका लक्ष्य था। लेकिन सामाजिक समस्याओं के संबंध में प्रत्येक घटक की कठिनाइयाँ भिन्न-भिन्न थीं। इसलिये सामाजिक परिषद के कार्यों का स्वरूप निश्चित करते समय वह एक-सा न होकर सभी का समावेश करने वाला हो इस बात का रानडे ने ध्यान रखा। परिषद के प्रस्ताव किसी के लिए बंधन स्वरूप नहीं बल्कि संस्तुति के रूप में थे। इससे अन्य संस्थाओं की स्वायत्तता में अथवा कार्यक्षमता में कोई बाधा नहीं आने वाली थी। हमारे आचार-विचार में थोड़ा बहुत अंतर भले ही हो लेकिन हमारी परम्परा का मूल स्रोत एक ही है। भले ही हर गुट अपनी ही संस्था के हित को ध्यान में रखकर काम करे। लेकिन सभी के अन्त:करण में भारतीय समाज के हित का विचार तो होगा ही। जब तक सब लोग मिलकर एक मार्ग का अनुसरण नहीं कर पाते तब तक अलग-अलग गुट के लोगों को भिन्न-भिन्न पद्धतियों से किन्तु एक दिल से कार्य करते रहना चाहिये, ऐसा रानडे का दृष्टिकोण था।[१]

रानडे के काल में लोगों का आधुनिक विचारों और मूल्यों से पहली बार परिचय हो रहा था। इसलिये उन्होंने वैचारिक जागृति पर विशेष बल दिया। सन् १८९१ में सोलापुर और बीजापुर जिलों में भीषण अकाल पड़ा। सार्वजनिक सभा ने इन जिलों का प्रत्यक्ष निरीक्षण कर उसकी रपट सरकार को प्रेषित की। सरकार ने उसपर कोई खास दिलचस्पी नहीं ली। केवल दो पंक्तियों का उत्तर आया। इससे भारत सेवक गोखले निराश हो उठे। ऐसी निष्फल योजनाओं में अपना समय और शक्ति नष्ट करने में क्या लाभ है ऐसा सवाल पूछने पर रानडे ने जो उत्तर दिया वह उनकी वस्तुनिष्ठ दृष्टि और स्थिर बुद्धि का द्योतक है। देश के इतिहास में हमारे लिये निर्धारित कार्य क्या है- इसकी यदि हमें जानकारी हो सके तो हमें बार-बार निराश नहीं होना पड़ेगा। ये प्रतिवेदन भले

1. M.W., P. 158

ही सरकार के नाम हो लेकिन इसी बहाने हम जनता को उनके अधिकारों के बारे में राजनीतिक शिक्षा दे सकते हैं यह बात अधिक महत्वपूर्ण है।[१]

हमारा परिश्रम व्यर्थ गया ऐसी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। अभी-अभी तो हमारी जनता को उसके राजनीतिक अधिकारों का एहसास होने लगा है। जनता जब शिक्षित हो जायगी। तब उसके निवेदनों का सरकार पर अवश्य परिणाम होगा। तब तक हमें तात्कालिक असफलताओं की चिन्ता न कर काम करते रहना होगा। पूर्व संस्कारों के मामले में जोर-जबर्दस्ती करने से काम नहीं चलेगा। यदि लोगों को साथ लेकर चलना है तो उनकी ही चाल से चलना होगा, यह निश्चित है। धीमी किन्तु सुनिश्चित गति से होने वाली प्रगति के परिणाम हर कदम पर दिखायी पड़ते हैं। अगला कदम बढ़ाने से पहले-पहले की सफलता या असफलता का जायजा लिया जा सकता है। इस प्रकार नये अनुभवों के प्रकाश में हमारी यात्रा निरापद हो जाती है। रानडे ने बर्क के ये उद्गार मानों अपने हृदय पटल पर अंकित कर लिये थे।[२]

रानडे ने आजीवन उदारमतवाद का प्रचार किया, किन्तु महाराष्ट्र में उनके विचारों को पर्याप्त समर्थन नहीं मिला। रानडे जिस वर्ग में अपने मत का प्रचार-प्रसार कर रहे थे वहाँ उच्च वर्ग का बुद्धिजीवी नौकरीपेशा मध्यम वर्ग था। रूढ़ि की प्रधानता, नियतिवाद, जन्मसिद्ध उच्च-नीच भाव तथा धर्मान्धता आदि की मात्रा कम कर व्यक्ति स्वातंत्र्य, बुद्धिनिष्ठा, प्रयत्नवाद, समानता और सहमति आदि तत्वों के आधार पर समाज का पुनर्गठन करने का कार्य महाराष्ट्र के पढ़े-लिखे लोग करें ऐसी रानडे की अपेक्षा थी। लेकिन इस वर्ग की परम्परा, परिस्थिति तथा मनोवृत्ति, उदारमतवाद स्वीकार करने के लिये अनुकूल नहीं थी। महाराष्ट्र के मध्ययुगीन इतिहास में व्यवसायी वर्ग को विशेष सम्मान प्राप्त नहीं था। कृषि और सैनिक कार्य यहाँ के परम्परागत व्यवसाय थे। पेशवाओं के काल में सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में ब्राह्मणों की प्रधानता थी। उन्होंने

1. Speeches and writings of Gokhale, Vol.III, P. 289-90
2. Revolution in France, P. 190

उद्योगधन्धा, संयोजनकला, साहस और हिसाब-किताब इन गुणों को हेयदृष्टि से देखा। अंग्रेजों के शासनकाल में उनके पुराने कार्यक्षेत्र ध्वस्त हो चुके थे, अतः उन्होंने अंग्रेजी पढ़कर सरकारी कार्यालयों तथा औद्योगिक कम्पनियों में नौकरी कर ली। एल्फिन्स्टन-माल्कम सरीखे प्रशंसकों ने उनकी इस मनोवृत्ति को पहचान कर उन्हें प्रोत्साहन दिया। इन पढ़े-लिखे लोगों में उद्योग-धन्धों के लिये आवश्यक गुण नहीं थे। इसलिये उन्होंने सेवा-प्रधान व्यवसाय में प्रवेश किया। डॉक्टर, वकील, पत्रकार तथा ग्रन्थलेखक के रूप में उन्होंने यश अर्जित किया। उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा प्राचीन परम्पराओं से जुड़ी हुई थी। अतः वे रानडे के उदारमतवाद की अपेक्षा परम्परागत आक्रामक राष्ट्रवाद से अधिक प्रभावित हुये। सुरक्षितता इनके जीवन का स्थायी भाव था। रानडे ने इस वर्ग की नस पकड़ ली थी। इस वर्ग ने नयी प्रेरणाओं का महत्व जान लिया था। लेकिन परम्पराओं की प्राचीन शृंखलायें तोड़ने का सामर्थ्य उनमें नहीं था। इससे वह प्रगतिशील विचार और परम्परागत आचार की कैंची में फँस गया था। इसी अन्तर्विरोध को रानडे ने तेलंग से संबंधित अपने चर्चित भाषण में "दोहरे जीवन" की संज्ञा दी है।[१] रानडे इस "चतुर किन्तु दुर्बल मध्यमवर्ग" के कर्तव्यनिष्ट प्रतिनिधि और मार्गदर्शक थे। इस वर्ग की शक्ति और सीमा को ध्यान में रखकर ही उन्होंने अपने सामाजिक सुधारों की रूपरेखा तैयार की। शिक्षा एवं शहरी वातावरण के प्रभाव से आधुनिक मूल्यों से इस वर्ग का परिचय था। अतः रानडे को इस वर्ग से काफी उम्मीद थी। लेकिन उन्हें इस वर्ग से अपेक्षित प्रोत्साहन नहीं मिला। नये पढ़े-लिखे लोगों में उच्चवर्णियों की संख्या ज्यादा थी। वे शासन के विभिन्न पदों पर आसीन थे। लेकिन उनमें समाज में मौलिक परिवर्तन लाने की छटपटाहट नहीं थी। वे अपने परिवार तक ही सीमित रहे और अपने परिवार के सुधार पर ही उन्होंने सन्तोष कर लिया।

अतः स्त्री-शिक्षा, प्रौढ़-विवाह, पुनर्विवाह, केशवपन (विधवा स्त्रियों का बाल मुड़वाना) प्रथा का निषेध, विदेश-गमन इससे आगे तत्कालीन सुधार नहीं

1. Speeches and writings of Gokhale, Vol.III, P. 280

बढ़ पाये। अस्पृश्यता निवारण, जातिभेद उन्मूलन जैसे सुधार सिद्धांत रूप में स्वीकार होने पर भी कार्यरूप में परिणत नहीं हो पाये। उच्चवर्ण की स्त्रियाँ भी अशिक्षित और रूढ़िपूजक थीं जिससे नये मूल्यों से संस्कारित पुरुषों को घुटन हो रही थी। इसलिये उन्होंने स्त्री-शिक्षा का आन्दोलन प्रारंभ किया। अपने अधिकारों के लिए लड़ने का सामर्थ्य तत्कालीन स्त्रियों में पनपने की संभावना नहीं थी। इसलिये सामाजिक सुधार आन्दोलन के आन्दोलन में कोई भी गुट टिक नहीं सका। बीसवीं शताब्दि के प्रारंभ में राजनीतिक आन्दोलन ने जोर पकड़ा और जनवरी १९०१ में रानडे की मृत्यु के बाद सामाजिक सुधारों का जोर ठंढा पड़ने लगा।

उपसंहार

धर्मनिष्ठा, परम्पराभिमान, सामाजिक जीवन की निरंतरता का आग्रह, उदारता तथा समन्वयशीलता आदि मामले में रानडे बर्क से समानता की विशेषताएं थीं।

रानडे पर भीरुता आदि के आरोप लगे लेकिन वे इससे विचलित नहीं हुए। आवेशपूर्ण आन्दोलन इनकी प्रकृति में ही नहीं था। अपने सौजन्य, सहिष्णुता तथा सौम्यवृत्ति के कारण वे अनेक बार आवश्यक न होने पर भी समझौते के लिये तैयार हो जाते थे। "विवाह के लिये निर्धारित आयु के कानून संबंधी आन्दोलन के समय जब विपक्ष ने हो-हल्ला शुरू किया तो रानडे ने न्याय० तैलंग तथा रायबहादुर नूलकर को लिखा कि "विवाहयोग्य कन्या की आयु ऋतुस्नाता होने तक की सीमा तक रखने के मामले में यदि आप मध्यस्थता करें तो विवाद समाप्त हो जायेगा।" इस प्रकार की मध्यस्थता करने से बिल के मूलतत्व पर ही कुठाराघात होगा यह जानकर तैलंग और नूलकर ने वैसा करने से मना कर दिया।[१] रानडे परम्परा पर गर्व क़रते थे लेकिन उसमें कड़ुवाहट नहीं थी। उसके दोषों पर भी उनकी दृष्टि थी। लेकिन हमारा समाज यथास्थिति में विश्वास करनेवाला तथा पुरातन प्रिय है। यदि कहीं से भी नवीनता

१. चंदावरकर याची व्याख्याने पृ.१७३

की गंध आती है तो वह विचलित हो उठता है। इसीलिये वे जो सुधार बताते हैं उसमें नवप्रवर्तन (रिनोवेशन) नहीं बल्कि प्राचीन परम्परा के पुनर्नवीनीकरण (रिनोवेशन) का आग्रह रहता था। पुनर्नवीनीकरण की इस प्रक्रिया में पुरानी परम्परा का जीर्णांश भस्म हो जायेगा इसका उन्हें विश्वास था। जो लोग अपने पूर्वजों के अनुभव को ध्यान में नहीं रखते वे भावी पीढ़ी की चिन्ता नहीं कर सकेंगे। वे क्षणिक लाभ-हानी के चंक्की में ही पड़े रहते हैं। कोई भी नया मार्ग स्वीकार करने से पूर्व वे आगा पीछा नहीं देखते। इसलिये नवप्रवर्तन (इनोवेशन) की प्रेरणा साधारण रूप में स्वार्थपरक तथा संकुचित मनोवृत्ति का परिपाक है, यह बर्क का दृष्टिकोण रानडे को स्वीकार होने लायक था।[१]

धार्मिक श्रद्धाओं का सुधारों के लिये उपयोग

लोग हमारी बातें नहीं मानते इसलिये उनसे दूर भागना श्रेयस्कर नहीं है। उन्हें धार्मिक संस्थाओं और ग्रन्थों पर श्रद्धा है। इस श्रद्धा का उपयोग हम उनके मत परिवर्तन के लिये कर सकते हैं। प्राचीन प्रस्थापित संस्थाओं से संबंध विच्छेद करने की हमारी मंशा नहीं है। कोई इसे हमारी कमजोरी कह सकता है तो कोई इसे हमारा शक्तिकेन्द्र मान सकता है।[२] लेकिन निःसन्देह यही नीति उपयुक्त है। इस बात को रानडे ने स्वीकार किया। सुधार का कार्य सरल हो इसलिये धर्मग्रंथों और परम्पराओं का आधार देने से हम अनजाने ही उनकी प्रामाणिकता को कायम रखने में सहायक होते हैं। लेकिन यही बात सुधारों की अगली मंजिल पर बाधक सिद्ध होती है। रानडे की परम्परा निष्ठा का यही एक दोष इसका दुष्परिणाम रानडे की त्रुटि था।

रानडे ने अन्तःसुधार पर विशेष बल दिया। सुधारों के लिये संघर्ष तो करना होगा। लेकिन मुख्यरूप से यह अन्तःसंघर्ष ही होगा-अपने ही मन के नये-पुराने विचारों का संघर्ष रानडे की यही मान्यता थी। सामाजिक सुधार के मार्ग में कुछ समूहों के हित आड़े आते हैं, इसकी उन्हें जानकारी न हो यह बात

1. Revolution in France, P. 36
2. M.W., P. 159

नहीं थी। लेकिन उन्होंने बाह्यसंघर्ष की अपेक्षा अन्तःसंघर्ष को अधिक महत्त्व दिया और वैचारिक संघर्ष के लिये जी-जान से प्रयास किया। उनका कहना था कि यदि मन बदले, विचार बदलें, पूर्वाग्रह समाप्त हो जायें तो बाह्यस्थिति सहज ही बदल जायेगी, यह उनका आशावाद था। जिन अनिष्ट रूढ़ियों के उन्मूलन के लिये हम प्रयास कर रहे हैं उनके मूल में हमारे गलत विचार और गलत कल्पनायें ही हैं। पहले उनपर ही प्रहार करना चाहिये।[१] परिस्थिति बदलने से मनुष्य का मन बदलता है। यह सिद्धान्त सही नहीं है। लेकिन समाज परिवर्तन के लिये कुछ लोगों द्वारा जो विरोध होता है उसमें मानसिक दुर्बलता के साथ-साथ स्वार्थ का भी समावेश होता है। इसलिये अनेक बार बाह्य परिस्थिति बदले बिना जनसामान्य के विचारों में आमूल चूल परिवर्तन लाना संभव नहीं होता। रानडे ने इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया, इसलिये उनके सुधारवाद में सहिष्णुता, सहानुभूति तथा जनशिक्षा को जो स्थान प्राप्त है वह संघर्ष को नहीं है। उनका अनुयायी वर्ग उच्चवर्ण का था सनातनी और सुधारक दोनों पक्ष के लोग इसी वर्ग के थे। अतः उनके बीच में मतभेद एक सीमा से आगे नहीं बढ़े। सुधारकों ने भी प्रायः धीमा और समन्वय का मार्ग अपनाया।

भारत का उदारमतवादी सम्प्रदाय संघर्ष से प्रायः दूर ही रहा। रानडे की विचार पद्धति में निर्णायक अधिकार का उल्लेख कहीं नजर नहीं आता। राजनिष्ठा को कर्तव्य ही नहीं बल्कि एक उदात्त और पवित्र भावना मानने की उनकी प्रवृत्ति में परावलम्बी होकर जीना और गुलामी की भावना छिपे होने का आरोप निराधार है। भारतीयों में स्वाभिमान और राष्ट्रीय भावना जागृत करने के लिये उन्होंने जीवन-पर्यन्त प्रयास किया। रानडे का उद्देश्य तत्त्वज्ञान की शिक्षा देना नहीं था। लोगों को आधुनिक जीवन पद्धति के साथ ले चलने की उनकी उत्कंठा थी। सिद्धान्त और व्यवहार इन दोनों के बीच तालमेल बैठाने में उनकी विचारधारा में कुछ दोष रहे होंगे। परन्तु उसमें समय का कितना हाथ था और रानडे का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व कितना था इसका निर्णय करना कठिन

---

1. M.W., P. 192

है। फिर भी आधुनिक महाराष्ट्र के सामाजिक तत्वज्ञान के आद्यप्रणेता के रूप में उनका महत्व अक्षुण्ण है।

सामाजिक सुधारपक्ष को अपेक्षित सफलता अवश्य नहीं मिली लेकिन कालान्तर में राष्ट्रीय कांग्रेस को जातीय ऐक्य, अस्पृश्यता निवारण, स्त्री-पुरुष समानता, ग्रामोद्धार जैसी सामाजिक समस्याओं की ओर ध्यान देना पड़ा।

मध्ययुगीन कल्पना और संस्कार में निमग्न इसी परम्परा की परिसीमा से जनसाधारण को बाहर निकालने का काम रानडे ने किया और भारत में सामाजिक पुनरुत्थान की बुनियाद रखी।

न्यायमूर्ति रानडे के चिन्तन के अध्ययन, चिन्तन, मनन एवं प्रकाशन की प्रासंगिकता स्पष्ट है। विशेष रूप से ऐसे काल में जब धर्म के नाम पर पनपने वाली कट्टरता रक्त-रंजित संघर्ष का, आतंकवाद का रूप धारण कर राष्ट्र एवं विश्व के जीवन को भीषण रूप से संकटापन्न बनाने पर तुली है और उसका कोई समाधान नहीं दिखता। जब धर्म के नाम पर हो रहा खूनी खेल धर्म को ही अभियुक्त के कटघरे में खड़ा कर उसे उस अपराध का दंड देने पर उतारू है जिसका दोषी धर्म नहीं बल्कि वास्तव में उसके स्वयंभू पुरोधा तथा धर्म के नाम पर एक-दूसरे का सर्वनाश करने को आतुर धर्म के सही आशय से अनजान, अनभिज्ञ लोग हैं, समुदाय हैं।

इस पुस्तक में न्याय० रानडे के धार्मिक चिन्तन और समाज सुधार संबंधी उनके विचारों एवं कार्यों से उसके संबंध को निरूपित करने का विनम्र प्रयास किया गया है जिसके लिये सामग्री न्याय० रानडे के लेखन तथा उनकी जीवनियों से ली गयी है। पुणे विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित "रानडे प्रणीत समाज सुधारणे ची तत्वमीमांसा" का उल्लेख विशेष रूप से आवश्यक है जिसने हमारा मार्गदर्शन करने में महती भूमिका निभायी है। उसमें उपलब्ध ज्ञानराशि का हमने भरपूर उपयोग किया है जिसके लिये हम पुस्तक के रचयिता मा.गं.ब. सरदार के ऋणी हैं। रानडे की १६१वीं जन्मतिथि पर हम अपना यह श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए आह्लादित एवं गौरवान्वित अनुभव कर रहे हैं।



न्यायमूर्ति रानडे की धर्मनिष्ठा

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत एक सामाजिक तथा सांस्कृतिक विक्षोभ से गुजर रहा था। उपनिवेशवादी ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा आरोपित सैनिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक वर्चस्व, आर्थिक शोषण, भारत के समक्ष उसके द्वारा रखी गयी चुनौती (सभ्यता-संस्कृति, धर्म, शिक्षा आदि के क्षेत्र में) तथा अपनी सत्ता के सुदृढ़ीकरण तथा आर्थिक शोषण के ध्येय की पूर्त्ति के निमित्त प्रशासन, संचार-परिवहन, शिक्षा आदि के क्षेत्र में उसके द्वारा उठाये गये कदमों के परोक्ष प्रभावस्वरूप नवशिक्षित भारतीय राष्ट्रीय अपकर्ष के प्रति चेतन होते जा रहे थे और उनमें से कुछ लोग देश के जीवन के धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक, सभी पक्षों में परिवर्तन अथवा सुधार के लिए व्यग्र थे। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक जीवन एवं व्यवस्थाओं की परस्पर निर्भरता को इंगित करते हुए- जिसे वे प्रकृति का विधान मानते थे, उन्होंने कहा था-'You cannot have a good social system when you find yourself low in the scale of political rights, nor can you be fit to excercise political rights and privileges unless your social system is based on reason and justice. You cannot have a good economic system when your social arrangements are imperfect'-'If your religious ideas are low and gravelling (उलझन में डालने वाले) you cannot succeed in social, economic and political spheres.....' समाज के बहुमुखी सुधार की यह व्यग्रता महादेव गोविन्द रानडे में अत्यंत प्रबल रूप में दिखती है जो समकालीन महानतम् एवं सर्वाधिक विशिष्ट भारतीयों में से एक थे। वे एक विद्वान अध्येता, गंभीर विचारक, प्रखर चिन्तक, समर्पित देशभक्त और विशिष्ट अधिकारी, दूरदर्शी राजनेता एवं समाज सुधारक, इतिहासविद तथा महान्

अर्थशास्त्री थे।[१] वे उन्नीसवीं शताब्दी के परिष्कृत चिन्तकों में अग्रणी तथा भारतीय एवं यूरोपीय दर्शन से भलीभांति परिचित थे। भारत और विश्व के सामाजिक–आर्थिक एवं राजनीतिक विकास के ऐतिहासिक तथा सम्यक बोध के फलस्वरूप, भारतीय उदारवादी चिन्तन एवं आन्दोलन की दार्शनिक पृष्ठभूमि के निर्माता[२] और, अंग्रेजी शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता–संस्कृति तथा उदारवादी विचारधारा से प्रभावित, रानडे विशिष्ट भारतीय उदारवाद के प्रवर्तक भी माने जाते हैं।[३] उन्हें भारतीय उदारवादियों में सर्वश्रेष्ठ भी कहा जाता है। भारतीय उदारवाद के प्रमुख प्रणेता के रूप में उनकी गणना राममोहन राय के साथ की जाती है जिनसे भारतीय उदारवाद की परम्परा की शुरुआत मानी जाती है जिन्होंने, वैयक्तिक स्वातंत्र्य के साथ ही सामाजिक बन्धनों से मुक्ति के लिए, देशवासियों को जागृत करने का अथक प्रयास किया।[४]

भारत की आधुनिक उदारवादी परम्परा का विकास उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आधुनिक (पश्चिमी) शिक्षा, नवीन पाश्चात्य वैचारिकी (जेम्स मिल, बेन्थम, मेकॉले तथा बाद में हेनरीमेन, जेम्स स्टीफेन और मार्ले के माध्यम से); ईसाई मिशनरियों, प्रेस (पत्रकारिता), नवीन साहित्य, समय–समय पर होने वाले विधि–निर्माण और विधि के शासन, नवोदित बौद्धिक मध्यमवर्ग के उद्भव और भारतीय धार्मिक एवं सामाजिक, सुधारवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप हुआ। कलकत्ता में इनका जन्म और बम्बई में विकास हुआ।[५] धार्मिक उदारवाद के रूप में जन्म लेकर यह सामाजिक उदारवाद के रूप में विकसित हुआ और आगे चलकर इसने राजनीतिक उदारवाद को जन्म

---

१. डॉ. जी. कर्वे, द. प्रॉफेट आफ लिबरेटेड इण्डिया, पूना, १९४२, पृ.१
२. राजेन्द्र वोरा, टू स्ट्रैण्ड्स आफ इण्डियन लिबरैलीज्म, पृ.९३
३. नीरा देसाई, भारतीय समाज में नारी, पृ.५९
४. बी. ए. नायक, इण्डियन लिबरैलीज्म, बाम्बे, १९४५, पृ.१
५. एरिक स्टोक्स, द इंग्लिश यूटिलिरेरियन्स एण्ड इण्डिया, पृ. १४ नीरा देसाई / बी. प्रसाद (सं.) आइडियाज इन हिस्ट्री, पृ.११४

दिया। रानडे के विचारों में, बम्बई प्रेसीडेन्सी में विकसित, उदारवाद का सर्वाधिक संतुलित-संघटित रूप प्रस्फुटित हुआ। उनके पूर्व उदारवाद का अस्तित्व तो स्पष्ट था किन्तु उसका दृष्टिकोण सीमित था एवं भावनाएँ संकुचित थीं। अतएव रानडे ने उदारवाद के सुव्यवस्थित विकास की दिशा में प्रयास किया।

उदारवादी रानडे धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे। अपनी धार्मिक वृत्ति के कारण ही उन्हें जीवन के विभिन्न पक्षों में प्रसिद्धि प्राप्त हुई। ईश्वर में आस्था उनका प्रमुख गुण था तथा मानव की उदारता में भी उनका पूर्ण विश्वास था।[१] गहन भक्ति-भावना से ओतप्रोत रानडे उदारता तथा मानव-प्रेम के मूर्तिमान रूप थे। भक्ति आन्दोलन के संतों (संत तुकाराम, नामदेव आदि) का उन पर प्रबल प्रभाव था। संत तुकाराम के पदों से वे द्रवित हो उठते थे जिनके अभंग का वे प्रातः सायं प्रायः सस्वर पारायण करते थे। ३०० वर्ष बीत जाने पर भी तुकाराम के प्रबल प्रभाव के पीछे उन्हें दैवी अनुग्रह के दर्शन होते थे। (अगाशे, थर्ड एनीवरसरी, पृ.१०) तुकाराम के अनुयायियों के साथ वे पंढरपुर की वार्षिक यात्रा में भी शामिल होते थे और जिस वर्ष नहीं जा पाते थे उस वर्ष उन्हें भारी क्लेश होता था। सरकारी दौरों के समय भी वे तीर्थस्थलों के दर्शन के लिये लालायित रहते थे। १८८६ में शिमला से कलकत्ता जाते समय वे हरिद्वार में रुके और गंगा के दर्शन कर भावविभोर हो उठे। उसी यात्रा के दौरान बनारस में भी गंगास्नान और देव-दर्शन करना वे नहीं भूले। (रमाबाई रानडे, रेमिनेशेन्सेज, पृ.१५७, १७२) जीवन के अंतिम दिनों में, जब वे सार्वजनिक जीवन से प्रायः दूर होने लगे तो मराठा संतों, भगवद्गीता और उपनिषदों का अधिकाधिक अध्ययन करने लगे। संत तुकाराम के प्रभाव में विशेष वृद्धि हुयी; यद्यपि इससे उनकी कर्मठता में कोई कमी नहीं आयी। (रमाबाई रानडे, पूर्वोद्धृत)।

---

१. एण्ड्रूज-द रेनासां इन इण्डिया, पृ.१४५

गोखले ने उनकी धर्मपरायणता के संदर्भ में कहा था कि "रानडे का स्वभाव संतों जैसा था जो उनके सद्‌गुणों से प्रकट होता है। उनके सद्‌गुण पूर्णता को प्राप्त हो चुके थे जिनसे यह विश्वास होता था कि उनका व्यक्तित्व दिव्य था।" एक अन्य स्थल पर गोखले ने कहा कि "रानडे हर कार्य लगन से करते थे और ईश्वर की इच्छा पर उन्हें पूर्ण विश्वास था और इन्हीं कारणों से वह शान्त और प्रसन्नचित रहते थे।" जी.बी. जोशी ने कहा है कि "रानडे अपने सभी कार्य केवल देश-भक्ति की भावना से नहीं, बल्कि भक्ति-भावना और धार्मिक उत्साह से करते थे। उनके साथ अपने साहचर्य के दौरान जिस बात ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया वह उनकी सीधी-सादी, उत्कट धर्मपरायणता थी। ऐसा प्रतीत होता था मानों वे अनुभव करते थे कि परम पिता परमेश्वर सदैव उनके साथ ही विद्यमान हैं और वे स्वयं एक साधारण सेवक की भाँति उनके द्वारा निश्चित किये गये कार्यों को अपनी सामर्थ्यभर, पूर्ण आस्था के साथ, सम्पन्न करते रहते हैं।" गोखले के मतानुसार भी-"रानडे में भगवद्गीता के सभी गुण विद्यमान थे। निःस्वार्थ सेवाभाव, विनम्रता, ईश्वर पर विश्वास और उससे उत्पन्न मानसिक शान्ति, क्षमाशीलता और सबके प्रति दया भाव।"[१] "श्रेष्ठतर नैतिक साहस और सीधी-सरल गरिमा, धैर्य-पूर्ण सहिष्णुता तथा उदार निष्ठा अथवा संलग्नता का अन्य दृष्टान्त दुष्कर है जिसमें उद्देश्य की अडिगता शामिल हो।"

सामाजिक उत्थान के सन्दर्भ में भी धर्म का विशेष योगदान स्वीकार करने वाले रानडे व्यक्ति और समाज दोनों के लिए धर्म को महत्वपूर्ण मानते थे। उनकी दृष्टि में 'धर्म' मानव का मूल संवेग और इस प्रकार, एक सार्वभौम तत्व है। रानडे का कहना था कि धर्म का उद्देश्य, निश्चित रूप से, मनुष्य को यह बतलाना है कि ईश्वर ही पूर्ण श्रद्धा, भक्ति, आस्था तथा प्रेम का पात्र (आधान) है। इस प्रकार ईश्वर के प्रति पूर्णनिष्ठा उत्पन्न करना और मानव को,

१. जागीरदार, महादेव गोविन्द रानडे, पृ.२६३-६५

उसके कल्याणार्थ, ईश्वरीय विधान के प्रतिरूप विवेक या अन्तरात्मा द्वारा अनुदेशित होने के लिए उत्प्रेरित करना।[१] अर्थात् धर्म का उद्देश्य ईश्वर के विधान या आदेशों के पालन की भावना उत्पन्न करना (जो हमारे समक्ष हमारी अन्तरात्मा तथा विवेक के द्वारा प्रकट किये जाते हैं) तथा मनुष्य को अपने जीवन में यथासंभव अच्छा बनने को प्रेरित करना और इस प्रकार, अगले उच्चतर अस्तित्व के योग्य बनाना है।[२] अतएव रानडे का कहना था कि 'व्यक्ति को सतत अपूर्णता से पूर्णता की ओर प्रयत्नशील रहना चाहिए।' दक्कन कॉलेज के वार्षिक समारोह में धर्म का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा था कि 'धर्म भारत की एक विशिष्टता है।' रानडे के निबन्ध "फिलॉसफी ऑफ इण्डियन थीज्म" से प्रकट होता है कि उन्हें यह बोध हो चुका था कि 'भारत की राष्ट्रीय आत्मा भौतिकवाद के विरुद्ध आध्यात्मिकवाद की रही है।'[३] वे मानते थे कि 'भारत वही है जो "उसकी चिरस्थायी धार्मिक ललक ने उसे बनाया है।" 'यह मिल, स्पेन्सर तथा सिजविक के संशयवाद से भिन्न है। यदि देशवासियों को किसी ने सत्य तथा ईमानदारी का पाठ पढ़ाया है तो वह धर्म है।'[४] उनका कहना था कि, "यहाँ के निवासियों की धार्मिक प्रतिबद्धता ही जीवन मूल्यों का निरूपण करने वाले मूल भावों का निर्माण करती है।"[५] 'जीवन के प्रति भारत की धार्मिक प्रवृत्ति और धर्म के प्रति प्रेमान्धता उसे अन्य राष्ट्रों से भिन्न बनाती है'[६] 'धार्मिक विचारों के दीप्तिमान नक्षत्र' कहलाने वाले रानडे ने,

१. जकारिया : रेनेशेण्ट इण्डिया, पृ.४५
२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६२
३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१-१२५
४. टी.टी. पर्वते, महादेव गोविन्द रानडे, पृ.५६, ६९
५. टी. वी. पर्वते, पृ.५६, जेम्स केलाक, पृ.१५०, जागीरदार पृ.१२, एम. आर. फाटक : रानडे चरित, पृ.३७१ तथा रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२-३
६. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२, [illegible], पृ.१६५

एक पारसी मित्र के यह कहने पर कि, "संसार में धर्म से विलग रहकर भी मनुष्य जीवित रह सकता है," प्रत्युत्तर में कहा था कि "यह धर्मरक्षित भूमि है। अच्छा हो या बुरा, धर्म के बिना हम कुछ नहीं कर सकते। हमारे रक्त प्रवाह में धार्मिक विचार धाराएँ प्रवाहित होती हैं। यदि हम इससे दूर भागने का प्रयत्न भी करें तो ये हमारा पीछा नहीं छोड़ेंगी।'[१] 'यह तत्वमीमांसा और आचार-शास्त्र के बीच स्थित है क्योंकि इसका संबंध हमारी प्रकृति की व्यावहारिक एवं चिन्तनात्मक दोनों ही मनःशक्तियों से है।'[२] अतएव, 'धार्मिक चेतना के दो पक्ष हैं प्रगतिशील एवं व्यावहारिक; पहली बौद्धिक एवं चिन्तनात्मक है दूसरी हमारे स्वभाव के अनुरूप नैतिकता का निर्धारण करता है।'[३]

आस्था और अन्धविश्वास को वे भिन्न मानते थे। अन्धविश्वास को वे त्याज्य मानते थे किन्तु आस्था को नहीं। रानडे का कहना था कि, 'प्राकृतिक ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर को आस्था, आशा और प्रेम के माध्यम से ही पाया जा सकता है।'[४] उन्होंने आस्था के ३९ अनुच्छेद बतलाये हैं जिनमें ईश्वर की प्रकृति, मानव तथा वास्तविकता, ज्ञान तथा प्रमाण के प्रश्न, नैतिकता और धर्मों के पारस्परिक संबंधों आदि का विवेचन था।[५] उनका मत था कि धर्म के कुछ सिद्धान्त तर्क कसौटी पर परखे जा सकते हैं किन्तु कुछ आस्था पर आधारित हैं जिसे वे 'व्यावहारिक विवेक' कहते थे, 'जिसके माध्यम से धर्म से सम्बन्ध बना रहता है।'[६] अपने निबन्ध "एक ईश्वरवादी की आस्था की आत्मस्वीकृति' में रानडे ने स्वप्रतिपादित ईश्वरवाद का विशद विवेचन किया। इन मतों को वे 'सभी

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.
२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२५६
३. वही, पृ.२५८, २६१
४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२२
५. वही, पृ.२५९-७८
६. जेम्स केलाक, महादेव गोविन्द रानडे, पैट्रियट ऐण्ड सोशल सर्वेण्ट, पृ.१५१-५२, रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७८

धर्मों में अन्तर्निहित तथा उन धर्मों को सभी मनुष्यों, जातियों व पंथों (धर्म मतों–क्रीड्स) पर निष्ठा प्रदान करनेवाला शुद्ध ईश्वरवाद' कहते थे।[१]

ईश्वरवादी होने के नाते रानडे ने अनीश्वरवादियों[२] के प्रहारों का समुचित उत्तर दिया। १८८२ ई. में उन्होंने "बटलर्स एनालॉजी एण्ड सर्मन" पर प्रो. सेल्बी के प्रकाशन के विरुद्ध लेख लिखा और "आस्था" को नया अर्थ देते हुए, उसका पक्ष पोषण किया। रानडे के नीतिशास्त्रीय विचारों का सर्वश्रेष्ठ निरुपण, बटलर के 'मान्यानुमान तथा सर्मन' से संबंधित, डेक्कन कॉलेज के प्रोफेसर सेल्बी की इसी पुस्तक की समीक्षा (जो पूना सार्वजनिक सभा की त्रैमासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई) में हुआ है (जनवरी १८८२, पृ.४४–४५)। बटलर के संशयवाद के प्रत्युत्तरस्वरूप उन्होंने लिखा कि "हिन्दू अध्येता ईश्वर की भक्ति तथा अन्तःकरण के शुद्धीकरण में विश्वास रखते हैं। वे मानते हैं कि अन्तकरण के आदेशानुसार आचरण से मानव हृदय पवित्र एवं निर्मल होता है। भारत का राष्ट्रीय मानस नास्तिकता से संतुष्ट नहीं हो सकता। अनेक बार महान् नैतिक उपदेशकों ने इस पर व्यापक रूप से विचार किया है। इस देश में बौद्ध–धर्म स्थायी प्रभाव न डाल सका[३] यह इस बात का अकाट्य

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२५९
२. मिसलेनियस राइटिंग्स, पृ.६६
३. बौद्ध धर्म को वे हिन्दुत्व का अंग मानते थे। उनका विचार था कि बुद्ध ने किसी नये धर्म या सम्प्रदाय को जन्म नहीं दिया था बल्कि हिन्दुत्व में ही सुधार का प्रयास किया था। बौद्ध धर्म के महत्त्व को स्वीकार करते हुए बुद्ध के विषय में उन्होंने कहा कि–उन्हें, अपने उच्चतम एवं सौम्यतम विकास में, मानवता का परिपूरक कहना सर्वथा सत्य है, जिनका धर्मचक्र अभी भी, परमानन्द की प्राप्ति के प्रयत्नों में मानव जाति के अर्द्धभाग के विचारों एवं भावनाओं का नियमन करता है। (रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२९१)। आत्मा और परमेश्वर की अवधारणा से इन्कार के लिए रानडे ने बौद्धों की आलोचना भीं की। यद्यपि वे मानते थे कि बौद्धमत तथा इस्लाम के संघात ने भारतीयों के धार्मिक विवेक तथा नैतिक महत्ता को उन्नत बनाने में योगदान दिया है। (रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म)।

प्रमाण है।'[१] 'मानव का विवेकशील एवं आध्यात्मिक रूप इस देश की निजी विशेषता है।'[२] 'बटलर के धार्मिक तथा नीतिशास्त्रीय (आधारशास्त्रीय-इथिकल) विचारों की सेल्बी की व्याख्या से असहमति व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि नैतिक दर्शन के अनुभववादी (इम्पीरीसिस्ट) मत से संबंधित होने के कारण सेल्बी की दृष्टि पक्षपातपूर्ण या पूर्वाग्रहयुक्त थी। सेल्बी का मत था कि 'सही व गलत के निर्विकल्प या अपरिवर्त्य सिद्धान्तों की खोज निरर्थक या भ्रामक है। अंतश्चेतना के निर्देश सापेक्ष होते हैं–परिस्थितियों पर आधारित और तदनुसार परिवर्तित होते हैं। ईश्वर पूर्ण प्रज्ञावान, श्रेय (श्रेष्ठ) और सर्वशक्तिमान नहीं है, बल्कि श्रेयस व शक्ति में अपूर्ण या त्रुटिपूर्ण है; विश्व के नैतिक नियंता को मान्य करने वाला और वर्तमान तथा भावी अस्तित्वों को दण्ड व पुरस्कारों की प्रणालियों द्वारा निश्चित करने की प्रणाली में विश्वास रखने वाला कर्म-सिद्धान्त मतिभ्रम मात्र है। आत्मा का देह के साथ ही नाश हो जाता है। मनुष्य ईश्वर की प्रतिमूर्ति नहीं है। मानवीय ज्ञान सापेक्ष है और इसलिए परम (पूर्णतायुक्त) नैतिक मानदण्डों को हासिल करना संभव नहीं है।' इस धार्मिक अज्ञेयवाद तथा आचार शास्त्रीय (नैतिक) संशयवाद से व्यथित रानडे ने सेल्बी जैसे शिक्षकों से युवकों के मानस के, धर्म जैसे महत्वपूर्ण विषय पर, दुष्प्रभावित होने की आशंका व्यक्त की। प्रो. सेल्बी की पुस्तक की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा कि "युवकों की सर्वाधिक संवेदनशील अवस्था में अज्ञेयवादी तथा अनीश्वरवादी शिक्षा असामयिक है और उसका परिणाम केवल बोध की विकृति और नैतिक सत्यनिष्ठा का क्षरण ही हो सकता है।" उस समय सरकारी तथा गैर-सरकारी स्कूल-कॉलेजों में दी जा रही "धर्म-निरपेक्ष" शिक्षा की (जिसे वे 'ईश्वर विहीन शिक्षा' कहते थे) प्रवृत्ति के प्रति उनका विरोध विशेष रूप से प्रबल

---

१. मिसलेनियस राइटिंग्स, पृ.६९
२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२-३

था। अतः उन्होंने ऐसी शिक्षा का विरोध किया और धार्मिक शिक्षा की भावात्मकता पर जोर दिया।[१] रानडे बटलर के इस विचार से सहमत थे कि 'ईश्वरवाद तथा परम नैतिकता को तर्कसंगत रूप से निश्चित किया जा सकता है जो बोधगम्य थे तथा आचरण के लिए पर्याप्त थे।' अपने ईश्वरवाद के आधार पर उन्होंने आचार-शास्त्रियों के दोनों मतों को अस्वीकार किया- चाहे वे अनुभववादी हों या पूर्णतावादी (इम्प्रिसिस्ट या अब्साल्यूटिस्ट); अनुभववादी अतिशय संकीर्ण थे और पूर्णतावादी अत्यन्त विशद क्योंकि 'नैतिक भावना' को रानडे एक प्रारम्भिक या अल्पविकसित बीज (जर्म) मानते थे जो "मनुष्य में उसकी सामाजिक प्रवृत्ति के अंग के रूप में विद्यमान रहती है और दूसरी ओर उसका विशिष्ट विकास ऐतिहासिक परिस्थितियों पर आधारित होता है। मानव के अपने विकासक्रम में अर्जित अनुभव नैतिक चेतना को आचरण का अन्तःप्रज्ञात्मक तथा पूर्ण मार्गदर्शक बनाते हैं।" रानडे के मतानुसार दैवी विधान के अस्तित्व तथा उसके नैतिक अभिप्राय या दिशा में आस्था ने ही सभ्यता को अक्षुण्ण रखा है क्योंकि अज्ञेयवाद (एग्नॉस्टीसिज्म) मानव की मूल संवेगात्मक नैतिक ललक का सन्तोषजनक समाधान नहीं करता और इस कारण, इसके द्वारा ब्रह्माण्डीय (सृष्टि-विषयक अथवा कॉस्मिक) प्रक्रिया की व्याख्या नहीं हो सकती।[२] उन्होंने लिखा कि, 'आज सभ्य मनुष्य जो कुछ है वह इसलिए है कि उसे एक पूर्ण (परम) पुरुष के नैतिक शासन तथा आत्मा के अमरत्व में विश्वास रहा है और थोड़े से महान् विचारकों की स्थिति कुछ भी हो, बहुसंख्यक मनुष्यों का उद्धार इस विश्वास के द्वारा ही हो सकता है।[३]

उनकी इसी धर्मनिष्ठा का परिणाम था कि समाजसुधार को अग्रसर करने

---

१. एन.आर. पाठक, रानडे-चरित, पृ.३७५

२. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.६, ६९

३. वही, पृ.६९

के ध्येय से स्थापित (१८८७) राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन के अगले वर्ष (१८८८) धार्मिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श के लिये अखिल भारतीय ईश्वरवादी सम्मेलन (ऑल इण्डिया थीस्टिक कॉन्फ्रेंस) का आयोजन किया जाने लगा जिसका उद्देश्य ईश्वरवादी संगठनों-संस्थाओं (थीस्टिक सोसाइटीज) के बीच सहयोग बढ़ाना, ईश्वरवाद का प्रचार-प्रसार करना और लोकोपकार को प्रोत्साहित करना था। इसके अधिवेशन रा.सा.स. के अवसर एवं स्थान पर ही आयोजित किये जाते थे। १८८८ से १८९२ तक और फिर १८९६ में रानडे इसके अध्यक्ष रहे। १८९८ में इसकी बैठक रानडे के आवास पर ही हुई। स्पष्टतः सदस्य संख्या अत्यल्प रह गयी थी और यह सम्मेलन आध्यात्मिक उत्ताप को प्रेरित करने में सफल नहीं हो सका था। (शिन्दे, थीस्टिक डाइरेक्टरी, पृ.४३-४६) परन्तु इससे सम्मेलन या उसके माध्यम से होने वाले प्रयास की महत्ता कम नहीं होती।



रानडे : धर्मचिन्तन

भारतीय इतिहास के आधुनिक काल में "पश्चिम भारत में नवजागरण के जनक" कहलाने वाले महादेव गोविन्द रानडे नैसर्गिक धर्म को स्वीकार करने वाले ईश्वरवादी थे।[१] उनकी धर्म भावना अत्यंत गहन एवं प्रबल थी।[२] रानडे पश्चिमी भारत के उस देववादी / ईश्वरवादी आन्दोलन के एक अग्रणी नेता थे जो १८६७-६८ के लगभग आरम्भ हुआ तथा उस आक्रामक रूख से मुक्त था जो इसने बंगाल में ग्रहण किया था। उनके धार्मिक दृष्टिकोण में विशिष्टता प्रार्थना समाज में प्रवेश के पश्चात् आयी। पारिवारिक धार्मिक वातावरण के फलस्वरूप विकसित आध्यात्मिक प्रवृत्ति[३] के बावजूद, प्रार्थना समाज की सदस्यता ग्रहण करने से पूर्व, उनके धार्मिक विचार सुस्पष्ट नहीं थे। प्रार्थना-समाज में प्रवेश के पश्चात् उनके व्यक्तित्व में परिवर्तन आया तथा उनके विचार नई दिशाओं में उन्मुख हुए। प्रार्थना समाज की साप्ताहिक सभाओं में अपने धार्मिक प्रवचनों के लिए सामग्री वे प्रारम्भ में बाइबिल से और, १८९३ के पश्चात्, उपनिषद, गीता आदि ग्रन्थों से तथा ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि संतों की कृतियों से लेते थे।

---

१. पी.जे. जागीरदार-स्टडीज, पृ.३४ "ईश्वरवाद तथा प्रोटेस्टेण्टवाद के अन्तर्भूत सिद्धान्तों को समझकर (जिन्हें वे सत्यधर्म मानते थे) रानडे ने हिन्दू धर्म एवं दर्शन" में इनका अन्वेषण किया और हिन्दू-धर्म के इनसे असंगत तत्वों को अस्वीकार किया।

२. "लोकमान्य तिलक ने एक अवसर पर उनके संबंध में कहा था रानडे यदि पोप होते तो धर्मयुद्ध छेड़ देते।" -आर.पी. टक्कर द्वारा उद्धृत; रानडे एण्ड द रूट्स ऑफ इण्डियन नेशनैलीज्म।

३. विद्यार्थी जीवन में भी उनकी इस प्रवृत्ति को विकास का सुअवसर प्राप्त हुआ। बम्बई में एलफिस्टन कॉलेज में अध्ययन काल में उनपर अलेक्जाण्डर ग्राण्ट का विशेष प्रभाव पड़ा।

प्रार्थना समाज से संबंधित धार्मिक (एवं सामाजिक) विचारों को व्यवस्थित रूप प्रदान करने के ध्येय से १८६७–६८ में रानडे ने "एक ईश्वरवादी की आस्था की स्वीकृति" शीर्षक लेख लिखा जिसमें उनके धार्मिक विचारों का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादन हुआ। इसमें उन्होंने ज्ञान, ईश्वर, परमात्मा व आत्मा के संबंध तथा पाप आदि का विवेचन किया। १८७२ में "द हिन्दू रिफॉर्मर" में प्रकाशित इस लेख में उन्होंने विवेक तथा आस्था (तर्क तथा विश्वास) में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। इस लेख में प्रतिपादित सामान्य दृष्टिकोण राजाराम मोहन राय से भिन्न नहीं था।

आगे चलकर उनके धार्मिक प्रवचनों का संग्रह श्रीमती रमाबाई रानडे ने प्रकाशित करवाया जिसमें उनके व्यक्तिगत धर्म के, सूक्ष्म रूप में, दर्शन होते हैं। रानडे के प्रमुख लेख एवं भाषण हैं–'दादोबा पाण्डुरंग एण्ड द स्वेडेन बोर्ग स्कूल' (१८७८), 'बटलर्स मेथड ऑफ इथिक्स – प्रोफेसर सेल्बीज नोट्स' (१८८२), 'फिलॉसफी ऑफ इण्डियन थीज्म –विल्सन कॉलेज मैं ईसाई धर्म पर डा. पैंटीकोस्ट की भाषण श्रृंखला (व्याख्यानमाला) के पश्चात् उपसंहार (१८९१) और 'हिन्दू प्रोटेस्टैण्टीज्म' (१८९५)।

तर्कबुद्धि (रीजन), विज्ञान तथा प्राविधिकी की उपलब्धियों से विस्मित होते हुए भी, लौकिक जीवन की सफलताओं से ही संतुष्ट न रहने वाले, रानडे स्वभावतः ईश्वरवाद की ओर उन्मुख हुए।[१] उनका ईश्वरवादी दृष्टिकोण प्रधान रूप से निष्ठा (फेथ) या आस्था पर आधारित था। इसके साथ ही वे मानते थे कि विवेक या तर्क बुद्धि (रीजन) भी ईश्वर के बोध में सहायक है। इस प्रकार रानडे ने विवेक या तर्कबुद्धि तथा निष्ठा दोनों को समान महत्व प्रदान किया।[२] विवेक या विज्ञान से उनका अभिप्राय अच्छाई व बुराई के बीच अन्तर करने वाली क्षमता से था। यही विवेक या विज्ञान, नैतिकता, विधान, राजनीति

---

१. पी.जे. जागीरदार–इन द सोशल थॉट ऑफ एम.जी.रानडे : स्टडीज, पृ.१००
२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२५७–६३

तथा गृह व्यवस्था का आधार है।[१] आस्था या निष्ठा को वे व्यावहारिक एवं सत्यनिष्ठ विवेक मानते थे।[२] यह उनके प्रामाण्यवाद व उपयोगितावाद का सूचक है और "आस्था" शब्द का प्रयोग अन्तःप्रज्ञावाद का।[३]

रानडे ने प्राचीनकाल से अपने समय तक के धर्म का गहन अध्ययन किया।[४] प्रत्यक्षतः वे पाश्चात्य चिन्तन एवं हिन्दुत्व के बीच की कड़ी थे।[५] शंकराचार्य, रामानुज, पुराण, मनुस्मृति, आदि के साथ ही उन्होंने बटलर की एनालॉजी, लीबनित्ज, स्पिनोजा के विचारों और बाइबिल तथा कुरान आदि का भी अध्ययन किया जिसके फलस्वरूप उनमें धार्मिक सहिष्णुता का उद्रेक हुआ जो 'ईश्वर तथा अन्तरात्मा के सिद्धान्त पर आधारित' थी। तदापि उन पर वैष्णवों तथा मध्ययुगीन मराठा संतों (नामदेव, तुकाराम, एकनाथ, ज्ञानदेव आदि) का विशेष प्रभाव था। रानडे शंकर के वेदांत दर्शन की रहस्यवादी सर्वेश्वरवादी व्याख्या के विरुद्ध थे और रामानुज, वैष्णवों तथा मध्ययुगीन मराठा संतों के ईश्वरवाद को अन्य प्रचलित पद्धतियों की अपेक्षा उच्चतर तथा सत्य मानते थे।[६] अतः वैष्णव तथा मध्यकालीन मराठा संतों–नामदेव, तुकाराम, एकनाथ, ज्ञानदेव आदि के वे अधिक निकट थे।[७] भक्ति आन्दोलन को वे पूर्णरूपेण ईश्वरवादी मानते थे जो किसी भी स्थिति में मूर्त्तिपूजा समर्थक नहीं था,[८] यद्यपि इसने मूर्तिभंजक रूप भी ग्रहण नहीं किया। अतएव उनका ईश्वरवाद

---

१. रमाबाई रानडे सं. : धर्म पर व्याख्या में, पृ.७८–७९
२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७८
३. जागीरदार : पूर्वोद्धृत, पृ.३७
४. पी.जे. जागीरदार–द इण्डियन जर्नल ऑफ पालीटिकल साइंस, वाल्यूम–२३, पृ.१७९–८०, जनवरी–दिसम्बर १९६२
५. वही, पृ.१८१
६. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१२
७. डा० ताराचन्द, भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, भाग–२, पृ.३५४
८. राइजं ऑफ मराठा पावर, १९७४, पृ.७२–७३

शंकर के अद्वैतवाद की अपेक्षा रामानुज के दर्शन[१] पर आधारित था। अपने एक व्याख्यान में रानडे ने एकेश्वरवाद को, एक ओर अद्वैतवाद और दूसरी ओर भौतिकवाद के बीच का मार्ग बताया। पहले दृष्टिकोण में स्वाधीनता के लिए कोई संभावना नहीं थी और दूसरे में, स्वाधीनता के आराजकता का रूप ले लेने से, दया तथा भलाई को तुच्छ समझा जाता था। अद्वैतवाद को वे ईश्वर की सच्ची सिद्धि में बाधक मानते थे[२] जिसकी अनुकम्पा में उनकी गहरी आस्था थी।[३] वास्तव में, शंकराचार्य के समय से पूर्व तथा उनकी मृत्यु के पश्चात्, रामानुज के संशोधित अद्वैतमत ने भारतीय दर्शन में महान (विशेष) भूमिका निभायी थी और इसे सम्पूर्ण भारत में उन वैष्णव पंथों के उदय का श्रेय दिया जा सकता है जो, अन्य विद्यमान प्रणालियों की तुलना में, ईश्वरवाद की उच्चतर तथा अपेक्षाकृत अधिक सच्ची अवधारणा तक पहुँचे[४] जिसका विवेचन रानडे ने "भारतीय ईश्वरवाद का दर्शन" शीर्षक निबन्ध में किया। इस निबन्ध में उन्होंने तीन पदार्थों या तत्वों के मूर्त (गोचर) अथवा प्रत्यक्ष अस्तित्व को इंगित किया–अचित अर्थात् पदार्थ या प्रकृति, चित्–आत्मन या मनुष्य तथा ब्रह्म (परमात्मा)। रानडे मानते थे कि अव्यक्त रूप में ये अभिन्न

---

१. रिलीजस ऐण्ड सोशल रिफार्म, पृ.६ –शंकर के दर्शन में भी वस्तुनिष्ठ अथवा यथार्थ प्रकृति के अस्तित्व का निरपेक्ष रूप से खण्डन नहीं है। उनका कहना था कि प्रकृति के सन्दर्भ में अस्तित्व या अनस्तित्व किसी की भी सम्पुष्टि संभव नहीं है जिस अर्थ में मानव, आत्मा तथा परमात्मा का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। शंकराचार्य ने स्वीकार किया है कि ब्रह्म को जैसे ही सृजन का विचार आया वह उक्त विचार के कारण ईश्वर अर्थात् सर्जक बन गया और जिसका सृजन हुआ उसका अस्तित्व तात्विक हो गया।

२. रानडे : एकेश्वरवादी कैफियत (मराठी), नरवणे पृ.५२

३. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृ.१३४–३५

४. "फिलासफी ऑफ इण्डियन थीज्म",–रिलीजस एण्ड सोशल रिफॉर्म पृ.७२

हैं, एक हैं।[१] प्रत्यक्ष या व्यक्त (व्यष्टि) रूप में आत्मा और पदार्थ (पुद्गल-मैटर) ब्रह्म से पृथक है और प्रकट (मूर्त या व्यक्त) रूप में पदार्थ और आत्मा एक दूसरे से पृथक नहीं हैं,[२] केवल मृत्यु होने पर उनका विच्छेद होता है। यह वेदांत की रामानुज द्वारा की गयी व्याख्या के अनुरूप है जिसके अनुसार चित् (मानव आत्मा), अचित् (पदार्थ) तथा ब्रह्म (परमात्मा) तीन धारणायें हैं। चित् और अचित्, अव्यक्त रूप में, ब्रह्म से पृथक अस्तित्व नहीं रखते।[३] रानडे की मान्यता थी कि संसार ईश्वर की सृष्टि है और वास्तविक है, माया मात्र नहीं है। पुद्गल (मैटर) को अस्तित्व, गति और जीवन ईश्वर से ही प्राप्त होता है।[४] अस्तित्व के तीनों भिन्न-भिन्न आधार तत्वों (चित्, अचित्, ब्रह्म) पर पकड़ अथवा उनके बोध में हमारी अक्षमता से अन्धविश्वास, संशयवाद (जिसे रानडे 'वैचारिक संज्ञाशून्यता' कहते थे)[५] और रहस्यवाद के दोषों का जन्म होता है। जब हम ईश्वर को काल या स्थान विशेष से आबद्ध कर देते हैं और उसे विशिष्ट असामान्य घटनाओं या स्थानों से जोड़ देते हैं तो अन्धविश्वास पनपता है जो हमारे मानसिक सन्तुलन को विचलित कर देता है। अपनी शक्तियों की अत्युक्ति के फलस्वरूप रहस्यवाद का जन्म होता है। जब हम प्रकृति और उसके रूपों से चकित-विस्मित होते हैं और अपनी क्षमता को कम आंकते हैं तो हम संशयी बन जाते हैं।[६]

मानव और प्रकृति

रानडे ने मानव तथा प्रकृति के संबंधों की हेतुवादी (बुद्धिवादी) व्याख्या

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.६
२. वही, पृ.७-१२
३. वही, पृ.६
४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६४
५. वही पृ.१४
६. वही, पृ.७

की। वे मानव संबंधी ब्रह्म समाजी व्याख्या को स्वीकार करते थे। वे जीव, प्रकृति और ईश्वर को रचनात्मक मानते थे। रानडे का कहना था[१] कि "सम्पूर्ण इतिहास में हम देखते हैं कि मनुष्य तीनों तत्वों को पृथक करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहा है और इनमें से किसी एक को दर्शन का आधार बनाता रहा है।" रानडे इसे गलत मानते थे। रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म), भौतिकवाद और सांख्य तथा अणुवाद एवं जर्मन प्रत्ययवाद (आयडियलिज्म) तथा शंकर के अद्वैतवाद को उन्होंने स्वीकार नहीं किया क्योंकि ये तीनों ही उपर्युक्त आधार तत्वों में से किसी एक को ही प्रधानता देते हैं। जब पदार्थ को एकमात्र अभिधारणा या आधार तत्व के रूप में स्वीकार किया जाता है तो भौतिकवादी दर्शन का जन्म होता है। भारत में भी कपिल का सांख्य दर्शन और कणाद का अणुवाद, पूर्णरूपेण या अंशतः भौतिकवादी था। उनका कहना था कि उभय अथवा युग्म-पक्षीय परमात्मा के एक पक्ष के रूप में मानव दूसरे पक्ष अर्थात् पदार्थ अथवा प्रकृति के समकक्ष है; अतएव उसे केवल पदार्थ के एक रूप या सक्रियता के रूप में देखना, जैसे कि भौतिकवादी करते थे, भ्रामक था।[२] मनुष्य तथा पदार्थ दोनों ही परमात्मा या महान निस्सीम के अधीन हैं, जो हमारे विचारों और प्रकृति के कार्यों के बीच सामंजस्य स्थापित करता है।[३] (इसी कारण, जैसाकि पहले लिखा जा चुका है, उनका कहना था कि प्रत्यक्ष तथा व्यक्त रूप में आत्मा और पदार्थ (मनुष्य और प्रकृति) एक दूसरे से पृथक नहीं; केवल मृत्यु होने पर उनका विच्छेद होता है।)[४] रानडे का कहना था कि "अनेक कारणों से विश्व की भौतिकवादी अवधारणा सीमित है। यह किसी सक्षम या अंतिम कारण के नहीं बल्कि गौण कारणों के आधार

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.७-१२

२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१३

३. वही, पृ.१७

४. वही, पृ.१६

हैं, एक हैं।[१] प्रत्यक्ष या व्यक्त (व्यष्टि) रूप में आत्मा और पदार्थ (पुद्गल-मैटर) ब्रह्म से पृथक है और प्रकट (मूर्त या व्यक्त) रूप में पदार्थ और आत्मा एक दूसरे से पृथक नहीं हैं,[२] केवल मृत्यु होने पर उनका विच्छेद होता है। यह वेदांत की रामानुज द्वारा की गयी व्याख्या के अनुरूप है जिसके अनुसार चित् (मानव आत्मा), अचित् (पदार्थ) तथा ब्रह्म (परमात्मा) तीन धारणायें हैं। चित् और अचित्, अव्यक्त रूप में, ब्रह्म से पृथक अस्तित्व नहीं रखते।[३] रानडे की मान्यता थी कि संसार ईश्वर की सृष्टि है और वास्तविक है, माया मात्र नहीं है। पुद्गल (मैटर) को अस्तित्व, गति और जीवन ईश्वर से ही प्राप्त होता है।[४] अस्तित्व के तीनों भिन्न-भिन्न आधार तत्वों (चित्, अचित्, ब्रह्म) पर पकड़ अथवा उनके बोध में हमारी अक्षमता से अन्धविश्वास, संशयवाद (जिसे रानडे 'वैचारिक संज्ञाशून्यता' कहते थे)[५] और रहस्यवाद के दोषों का जन्म होता है। जब हम ईश्वर को काल या स्थान विशेष से आबद्ध कर देते हैं और उसे विशिष्ट असामान्य घटनाओं या स्थानों से जोड़ देते हैं तो अन्धविश्वास पनपता है जो हमारे मानसिक सन्तुलन को विचलित कर देता है। अपनी शक्तियों की अत्युक्ति के फलस्वरूप रहस्यवाद का जन्म होता है। जब हम प्रकृति और उसके रूपों से चकित-विस्मित होते हैं और अपनी क्षमता को कम आंकते हैं तो हम संशयी बन जाते हैं।[६]

मानव और प्रकृति

रानडे ने मानव तथा प्रकृति के संबंधों की हेतुवादी (बुद्धिवादी) व्याख्या

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.६
२. वही, पृ.७-१२
३. वही, पृ.६
४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६४
५. वही पृ.१४
६. वही, पृ.७

की। वे मानव संबंधी ब्रह्म समाजी व्याख्या को स्वीकार करते थे। वे जीव, प्रकृति और ईश्वर को रचनात्मक मानते थे। रानडे का कहना था[१] कि "सम्पूर्ण इतिहास में हम देखते हैं कि मनुष्य तीनों तत्वों को पृथक करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहा है और इनमें से किसी एक को दर्शन का आधार बनाता रहा है।" रानडे इसे गलत मानते थे। रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म), भौतिकवाद और सांख्य तथा अणुवाद एवं जर्मन प्रत्ययवाद (आयडियलिज्म) तथा शंकर के अद्वैतवाद को उन्होंने स्वीकार नहीं किया क्योंकि ये तीनों ही उपर्युक्त आधार तत्वों में से किसी एक को ही प्रधानता देते हैं। जब पदार्थ को एकमात्र अभिधारणा या आधार तत्व के रूप में स्वीकार किया जाता है तो भौतिकवादी दर्शन का जन्म होता है। भारत में भी कपिल का सांख्य दर्शन और कणाद का अणुवाद, पूर्णरूपेण या अंशतः भौतिकवादी था। उनका कहना था कि उभय अथवा युग्म-पक्षीय परमात्मा के एक पक्ष के रूप में मानव दूसरे पक्ष अर्थात् पदार्थ अथवा प्रकृति के समकक्ष है; अतएव उसे केवल पदार्थ के एक रूप या सक्रियता के रूप में देखना, जैसे कि भौतिकवादी करते थे, भ्रामक था।[२] मनुष्य तथा पदार्थ दोनों ही परमात्मा या महान निस्सीम के अधीन हैं, जो हमारे विचारों और प्रकृति के कार्यों के बीच सामंजस्य स्थापित करता है।[३] (इसी कारण, जैसाकि पहले लिखा जा चुका है, उनका कहना था कि प्रत्यक्ष तथा व्यक्त रूप में आत्मा और पदार्थ (मनुष्य और प्रकृति) एक दूसरे से पृथक नहीं; केवल मृत्यु होने पर उनका विच्छेद होता है।)[४] रानडे का कहना था कि "अनेक कारणों से विश्व की भौतिकवादी अवधारणा सीमित है। यह किसी सक्षम या अंतिम कारण के नहीं बल्कि गौण कारणों के आधार

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.७-१२

२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१३

३. वही, पृ.१७

४. वही, पृ.१६

पर ही विवेचन करती है। यह परिणाम की व्याख्या करती है, किन्तु कारणत्व (कार्य-कारण भाव, कॉजेसन) की नहीं। यह व्यवस्था को दैवयोग या संयोग पर आधारित बतलाती है जो स्पष्टतः असंगत या विरोधाभासी है, जिस प्रकार 'परिवर्तन के आधार पर स्थायित्व की व्याख्या।' अतः भौतिकवाद विवेक की अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं करता। यह केवल इन्द्रियों के साक्ष्य का प्रयोग करता है जो स्वयं सीमित हैं। यह हमें अनिवार्य या अवश्यभावी रूप से द्वैधवाद से आबद्ध करता है। भौतिकवाद मानव की भावनात्मक माँगों की भी पूर्त्ति नहीं करता। इसके अन्तर्गत समाज, विधान, नैतिक आदर्श, काव्य तथा कला आदि प्रक्षेप या असंगत बन जाते हैं। अतिशय आदर्शवाद के संशोधन के रूप में इसे महत्वपूर्ण मानते हुए भी वे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सन्तोषप्रद नहीं मानते थे।[१] अतएव केवल अचित के आधार पर यथार्थ की व्याख्या करना उनकी सम्मति में अवांछनीय था। शंकराचार्य ने भी अपने भाष्य में अणुवादियों के मत का खण्डन किया है।[२]

इसके अतिरिक्त, रानडे की सम्मति में द्वितीय अभिधारणा (आधार तत्व) पर दर्शन को आधारित करना, अर्थात् आत्म या आत्मा को ही एकमात्र अस्तित्व-युक्त रूप मानना, उनके अनुसार कम से कम दो कारणों से आपत्तिजनक था—अहमन्यता (आत्मश्लाघा-इगोटीज्म) और निर्बन्धात्मकता (रेस्ट्रिक्टिवनेस)। अहमन्यता के कारण यह मानव को ही अस्तित्व का केन्द्र बना देता है। इसके अनुसार सभी वस्तुएं केवल मनुष्य के लिए होती हैं और उनका अस्तित्व उसी रूप में होता है जिस रूप में मनुष्य उनकी आकल्पना या अवधारणा करता है। इस प्रकार की अहमन्यता को रानडे अवांछनीय तथा अवास्तविक मानते थे। वैयक्तिक-निष्ठावाद या ज्ञान सापेक्षवाद-सब्जेक्टिविज्म के अन्तर्गत पदार्थ का स्वतंत्र रूप में अस्तित्व संभव नहीं रहता और इससे

---

१. वही, पृ.९

२. वही, पृ.९

विज्ञान की भी संभावना नहीं रहती। इसे चरम सीमा तक ले जाने पर यह निष्कर्ष निकलेगा कि व्यक्ति अन्य मानवों के तथ्य अथवा सत्य या यथार्थ को स्वीकार नहीं करेगा। इसके फलस्वरूप नैतिकता तथा समाज का अस्तित्व नहीं रहेगा[१] क्योंकि दोनों अन्तः क्रियात्मक "स्वत्वों" (सेल्फस) के अस्तित्व पर आधारित हैं। अतएव, उनका कहना था कि "मानव का दैवीकरण या व्यक्तिनिष्ठावाद वास्तविकता की या अस्तित्व की पहेली नहीं सुलझाता।"[२]

ब्रह्म को एकमात्र वास्तविकता मानना तथा प्रकृति एवं मनुष्य को इसकी प्रतिच्छाया मात्र मानना, जो सारतः ब्रह्म से अपृथक्करणीय हैं और हमारे अज्ञानवश पृथक प्रतीत होते हैं, सर्वेश्वरवाद या सर्वात्मवाद (पैन्थीज्म) कहलाता है। इसके प्रतिनिधि थे परवर्ती ग्रीक और स्टोइक तथा यूरोपियन, विशेषरूप से जर्मन, विचार।[३] यह जड़, चेतन सबमें ब्रह्म को अन्तर्व्याप्त मानता है। भारत में इसका एक रूप शंकर का अद्वैत दर्शन रहा है।[४] रानडे का कहना था कि, "इस प्रकार का सर्वेश्वरवाद हमारे बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक अवगम अर्थात् प्रत्यक्ष बोध (परसेप्सन) को सन्तुष्ट नहीं करता क्योंकि यह ब्रह्म को सत् और चित् (विचार एवं विस्तार-एक्सटेंशन) के रूप में एकमात्र वास्तविकता मानता है।[५] यह पृथक आत्माओं या स्वत्वों की समग्रता से इन्कार करता है और 'आनन्द के रूप में', ब्रह्म के लिए सम्भावना नहीं छोड़ता, न आनन्द में अन्य सचेतन प्राणियों के साथ ब्रह्म की अन्तःक्रिया की ही सम्भावना रहती है।[६] आत्मचेतना तथा परचेतना वास्तविक अस्तित्व का प्रमाण है।

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१०-११
२. वही, पृ.१०-११
३. वही, पृ.
४. वही, पृ.१२
५. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१३
६. वही, पृ.६

सचेतन, संवेदनशील प्राणियों का अस्तित्व ब्रह्म के साथ संबंधों को सम्भव बनाता है जो वैयक्तिक प्रकृति वाले होते हैं। सचेतन-संवेदनशील प्राणियों के रूप में स्वानुभूति से हमें यह बोध होता है कि ब्रह्म भी अवैयक्तिक अथवा निराकार स्वत्व या यथार्थ (हमसे तथा प्रकृति से परे) नहीं है, बल्कि वह तो दोनों के ही भीतर भी है और उनसे परे भी। रानडे मानते थे कि, "अस्तित्व के तीनों आधार तत्व, पृथक-पृथक होने के साथ ही, समंजित भी है; अनेक होने के साथ ही एक (समग्र) भी हैं।[१] 'वे गुलाब के समान हैं जिसमें रंग व गंध दोनों होते हैं किन्तु गुलाब इन दोनों से बढ़ कर है।' 'अतः तीनों का एकल तथा परम अस्तित्व मानना उतना ही भ्रांतिपूर्ण है जितना प्रत्येक के लिए पृथक एवं स्वतंत्र अस्तित्व का दावा करना।'[२] प्रकृति और मानव (अचित् और चित्) निस्सीम के अधीन हैं जो उनका नियमन करता है और उनमें समायोजन भी करता है।

रानडे अज्ञेयवाद को भी स्वीकार नहीं करते थे जिसके अनुसार, तर्काधारित प्रमाण के अभाव में, अस्तित्व के प्रश्न तथा अंतिम (परम) सत्य को असमाधेय माना जाता है। रानडे का कहना था कि सृष्टि या ब्रह्माण्ड तथा मानव के जन्म की निस्सीमता से संबंधित प्रश्न मानव बुद्धि के द्वारा हल नहीं किये जा सकते, किन्तु इस संबंध में प्रबल नैतिक आस्था (कान्विक्शन) ही पर्याप्त है।[३]

"भारतीय ईश्वरवाद का दर्शन" शीर्षक अपने भाषण (निबन्ध) में भारतीय तथा पाश्चात्य सभी धर्मों के विभिन्न दर्शनों का सर्वेक्षण कर उन्होंने प्रदर्शित किया कि "ईश्वरवाद का दर्शन अस्तित्व संबंधी प्रश्न का सर्वाधिक संतोषजनक

---

१. वही, पृ.१७

२. वही, पृ.

३. मिशलेनियस राइटिंग्स, पृ.११६, १९३-९४। रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१४, ३५८, २६०, ६१, १०३, २५९, २६५-६८

स्पष्टीकरण है।" उनका कहना था कि, "ईश्वरवाद का वास्तविक आशय यह है कि ईश्वर एकमेव सत्ता है, जो सृष्टि का कारण और भौतिक जगत का आधार तत्व है और जो, प्रकृति में व्याप्त रहते हुए भी, उससे परे है। संसार में जो कुछ भी गोचर है उसका अस्तित्व ईश्वर से है।[१]

ईश्वरवाद में ईश्वर की अवधारणा

वैज्ञानिक अनुसंधान के फलस्वरूप मानव-मानस के समक्ष, प्रकृति तथा मानव और जगत के, एक शक्ति, प्रज्ञा और प्रयोजन से परिव्याप्त होने का विचार स्पष्ट हुआ जो पुराने देवी-देवताओं और अच्छाई-बुराई के सिद्धान्तों के विभाजन से ऊपर था। ईश्वरवाद की देन यह थी कि इस मत के अन्तर्गत ईश्वर वह नहीं था जिसकी अवधारणा धर्म के प्राचीन रूपों में की गयी थी- जिसे अन्य स्वत्वों के बीच एक स्वत्व माना जाता था और जो, एक यांत्रिक या निर्माता के रूप में, बाहर से यंत्र को चालित करता है। बल्कि यह सब में अन्तर्व्याप्त और विश्व (ब्रह्माण्ड) पर शासन करने वाला ईश्वर था जो अपने कार्य के विस्तार से श्रांत-क्लांत नहीं था बल्कि, पुरुषसूक्त के अनुसार, 'निस्सीम विश्व से विशालतर पुद्गल (मैटर) एवं मानव के सृजित जगत् को आवृत्त करनेवाला, हर दिशा में इससे बृहत्तर था।' उपनिषदों ने ईश्वर के इस स्वरूप का निरूपण किया जो अग्नि, वायु, सूर्य, इन्द्र, यम (मृत्यु) सब पर शासन करता है, जिसे 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' की अवधारणा भी सर्जनहार मानती है।

रानडे के मतानुसार, ईश्वरवाद का प्रधान विचार एक परमात्मा में विश्वास है। 'ईश्वर या देवताओं का बाहुल्य नहीं है न कोई श्रेणीक्रम है[२] और पदार्थ तथा आत्मा, अच्छी व बुरी शक्तियों या प्रकाश तथा अन्धकार के सिद्धान्तों का द्वैध भी नहीं है। यह विश्वास धीरे-धीरे विकसित होता है। यह तभी संभव

१. वही, पृ.२६३-६५
२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६३

होता है जब मानस के सर्वोच्च कृत्यों की दशाओं का अधिकाधिक पूर्णता के साथ विकास हो।'[१] सर्वव्यापी ईश्वर को रानडे परम पुरुष या "परमपिता" (वन सुप्रीम बिइंग) मानते थे जो शक्ति, प्रज्ञा, श्रेयस (गुडनेस), प्रेम, न्याय और पवित्रता में सर्वोपरि है और जो, अपनी इच्छा (विल) और दैवी विधान (प्राविडेंस) के माध्यम से, विश्व अर्थात् ब्रह्माण्ड पर शासन करता है। प्रकृति में व्यवस्था और प्रयोजन उसी के कारण है। वह पूर्ण, परम अथवा निरपेक्ष, अप्रतिबन्धित, समस्त कारणों का कारण, पिता या जनक, न्यायाधीश तथा समस्त मानवजाति का नैतिक शासक है।[२] वह शाश्वत सत्य का, अपरिवर्तनीय मूल्यों का संरक्षक है और उसकी सत्ता आत्मा की क्षमता का विकास करने वाली व्यवस्था है।[३] वही उपासना का एकमात्र अधिकारी है। ईश्वर ध्यानपरायण ब्रह्म नहीं है जो आत्मलीन हो तथा पदार्थ एवं आत्मा या चेतना के जगत में होने वाली घटनाओं के प्रति उदासीन हो।[४] वह, एक शक्ति, प्रज्ञा तथा प्रयोजन के रूप में, प्रकृति तथा मानव आत्मा दोनों के ही जगत में सर्वव्यापी या अन्तर्भूत तथा सक्रिय है।[५] ईश्वर निष्पक्ष है। वह व्यक्तियों के बीच भेदभाव नहीं करता और इस प्रकार सभी स्त्री, पुरुष समान रूप से ईश्वर की सन्तान हैं।[६] इसके अलावा ईश्वर कुछ व्यक्तियों को शाश्वत आशीर्वाद और कुछ को शाश्वत दण्ड नहीं देता। ऐसा करना ईश्वर की निष्पक्षता तथा परिपूर्णता के साथ असंगत होगा।[७] स्वर्ग या नर्क की, अवधारणा स्पष्ट नहीं है।[८]

---

१. वही, पृ.२६२
२. रिलीजस ऐण्ड सोशल रिफार्मस, पृ.२६२-६३
३. वही, पृ.२६७
४. वही, पृ.२६३-६४
५. वही, पृ.१८१
६. वही, पृ.२७०
७. वही, पृ.२६९
८. वही, पृ.२६७

प्रकृति में ईश्वर की सर्वव्यापकता ही उसे व्यवस्था (व्यवस्था से अभिप्राय है, विवेक, सचेतन मानस या वैयक्तिक इच्छा से), एकरूपता, नियमितता, निरंतरता, आकार, प्रयोजन तथा ज्ञेयता प्रदान करती है।[१] अतएव प्रकृति हमें परमपिता का साक्ष्य या ज्ञान प्रदान करती है।

ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में रानडे, तत्वमीमांसक, ब्रह्माण्डीय तथा सोद्देश्यवादी तीनों प्रकार के मतों को स्वीकार करते हुए, सोद्देश्यवादी मत को सर्वाधिक महत्व प्रदान करते थे।[२] रानडे द्वारा प्रतिपादित "प्राकृतिक ईश्वरवाद" में चार प्रस्थापनायें दिखती हैं। प्रथम, ईश्वरीय विधान का विस्तृत ज्ञान अगम्य है। हम केवल यह जानते हैं कि वह हमारे कार्यकलापों का नियामक है और विधि, व्यवस्था, सौन्दर्य, अनुग्रह और बुद्धिमत्ता या प्रबुद्धता उसके उद्देश्य हैं। दूसरे, मानव इतिहास के नियमन में ईश्वर की सक्रियता, चमत्कारों के या विधान के उल्लंघन के माध्यम से नहीं प्रकट होती, क्योंकि विधि तथा व्यवस्था ईश्वर के उद्देश्यों में प्रधान हैं। ईश्वर अपने प्रयोजन की पूर्त्ति अपने द्वारा आविष्कृत विधान के माध्यम से करता है। तीसरे, मानव इतिहास में ईश्वर अपने अनुग्रहशील प्रयोजन की पूर्ति मानव अन्तरात्मा के माध्यम से करता है, विशेष रूप से, उच्च रूप से विकसित अंतश्चेतना और असाधारण क्षमता वाले व्यक्तियों के माध्यम से –जैसे संत, महात्मा, पैगम्बर, राजनेता और सेनानायक आदि। चौथे, मानव इतिहास में घटित होने वाली 'नैतिक उन्नयन में सहायक' घटना ईश्वरीय विधान के अनुरूप होती है।

ईश्वर स्वयं को प्रकृति में प्रबुद्ध मानव–मानस या चैतन्य में तथा इतिहास में व्यक्त करता है।[३] प्राकट्य (अवतरण) ऐतिहासिक तथा विशिष्ट होते हैं। वे ही विशिष्ट, निराले, पृथक, स्थापित, विद्यमान धर्मों के आधार हैं और प्रत्येक

---

१. वही, पृ.१८–१९

२. जागीरदार : स्टडीज, पृ.३३

३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१८–१९

प्राकट्य की वैधता उस विशिष्ट प्राकट्य तक ही विस्तृत अथवा सीमित होती है।[१] ईश्वर की विभूतियां मनुष्य के रूप में भी होती हैं। रानडे का विचार था कि 'देश में देवदूत की दृष्टि, कवि की प्रेरणा, महान धर्मोपदेशक की वाग्मिता, दार्शनिक के ज्ञान अथवा बलिदानी का आत्मोत्सर्ग लेकर वरद् आत्मायें जन्म लेती हैं। इनकी दृष्टि, प्रेरणा, वाग्मिता, ज्ञान और शूरत्व वस्तुतः दैवी होते हैं। वे ईश्वर का विशेष प्रसाद होते हैं। ऐसी विभूतियां जो कुछ देखती हैं, अनुभव करती है और उपदेश देती हैं वे सब विशेष प्रकार के श्रेष्ठतर और बृहत्तर दैवी प्रकाश या ईश्वरीय ज्ञान या अन्तर्बोध हैं। ग्रन्थों में जिस ईश्वरीय ज्ञान या बोध का उल्लेख मिलता है वह चिन्तन मात्र है। स्वभावतः, अस्थायी तथा स्थानीय होने के कारण, उसका मूल्य भी सापेक्ष तथा अस्थायी होता है।[२]

ईश्वर क्योंकि ब्रह्माण्ड के विधानों से आबद्ध है इसीलिए, प्रकृति की एकरूपताओं के सामयिक या प्रायिक विच्छेद होने के कारण, चमत्कार असम्भव है।[३] उनकी कोई आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि ईश्वर पूर्व-वर्णित तीन प्रकारों से प्रकट होता है और फिर ब्रह्माण्ड की विशालता, व्यवस्था तथा जटिलता स्वयं ही महानतम् चमत्कार है।[४] विधि एवं व्यवस्था के निमित्त निर्मित नियम, सौन्दर्य एवं उदारता, शक्ति एवं बुद्धि सभी दैवी सक्रियता या ईश्वर के सन्देशवाहक हैं। इसी कारण उन्हें वे नैसर्गिक प्रतिनिधि (तत्व) कहकर सम्बोधित करते थे।[५]

रानडे ने इस बात पर जोर दिया कि मानव प्रकृति में एक धार्मिक क्षमता या मनःशक्ति या मूल संवेग विद्यमान है जो कि इस तथ्य से स्पष्ट है कि

---

१. वही, पृ.२६२

२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७२, मिशसलेनियस, पृ.६८

३. पर्वते, पृ.५९, रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२२

४. वही, पृ.२७३

५. वही, पृ.१६, १७, १९

धर्म एक सार्वभौम तत्व (प्रघटना) है और प्रत्येक व्यक्ति सहज रूप से स्वयं को एक आश्रित प्राणी अनुभव करता है जो एक ऐसी शक्ति या सत्ता या वास्तविकता पर निर्भर है जो उससे परे तथा श्रेष्ठतर है।[१] मानव ईश्वर के समरूप है, किन्तु ईश्वर केवल मनुष्य की प्रतिच्छाया नहीं है।[२] यदि यह सत्य होता तो हमें ऐसा ईश्वर या देवता प्राप्त होता जिसके विग्रह मानव के समान होते, उससे श्रेष्ठतर नहीं। अतः ईश्वर के ऐसे मानवतारोपी दृष्टिकोण का खण्डन होना चाहिए। रानडे यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि पितृसत्तात्मक ईश्वर की मानवतारोपी अवधारणा भौतिकवादी अवधारणा की अपेक्षा अधिक बोधगम्य है क्योंकि भौतिकवादी व्याख्या में ईश्वरीय विधान का अभाव है जो निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रकृति पर शासन करता है।

ईश्वर की नैतिक सत्ता तथा अन्तःकरण की प्रेरणा रानडे की आध्यात्मिक विचारधारा की धुरी थे। उनकी सम्मति में विश्व में ईश्वर के सक्रिय होने के कारण ही नैतिकता की आधार शिलाएं स्थिर हैं और उनमें निरन्तर परिवर्तन नहीं होता। ईश्वर स्वेच्छावादी या लोलुप देवता नहीं है, इसलिए नैतिक सापेक्षतावाद की सम्भावना नहीं है। अतएव ईश्वर की सत्ता को वे आत्मा की क्षमता का विकास करने वाली व्यवस्था मानते थे।

मनुष्य में नैतिक चेतना समाज से पूर्व विद्यमान

रानडे का विश्वास था कि ईश्वर क्योंकि नैतिक है और क्योंकि मनुष्य ईश्वर के अधीन है अतएव ईश्वरीय विधान ने प्रत्येक व्यक्ति में नैतिक चेतना आरोपित की है जिससे अन्तश्चेतना का विकास होता है; इस प्रकार अन्तश्चेतना ईश्वर प्रदत्त है। यह मनुष्य के हृदय में "ईश्वर की वाणी" है "जिसे सुनने को हम बाध्य हैं।"[३] अन्तश्चेतना एक सार्वभौम तथ्य है। अन्तश्चेतना के आदेश

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२५९

२. मिसलेनियस राइटिंग्स, पृ.६६

३. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.६७

या नैतिक भावना में ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन संभव है।[१] रानडे का कहना था कि, नैतिक दर्शन का अनुभववादी पंथ इस तत्व को अनदेखा करता प्रतीत होता है कि मनुष्य में नैतिक-चेतना पहले से विद्यमान एवं सक्रिय थी जब समाज अत्यधिक आदिम दशा में था। एक ओर यह एक प्राथमिक बीज (रूडीमेण्टरी जर्म) है जो मनुष्य को उसकी सामाजिक प्रकृति के अंग के रूप में प्राप्त है; दूसरी ओर, इसका विकास ऐतिहासिक दशाओं पर निर्भर है।[२] अनुभववादी पंथ भी स्वीकार करता है कि पैतृकता तथा संचित अनुभव द्वारा हस्तान्तरण ने नैतिक चेतना को आचरण का अंत:प्रज्ञात्मक तथा परम मार्गदर्शक बनाया है (यही बटलर का भी मत था)।[३] नैतिक प्रकृति मानव की वास्तविक प्रकृति है। इससे असंख्य विचलनों के बावजूद, मनुष्य 'मानव' है जो उसकी चिरस्थायी नैतिक प्रकृत्ति का सूचक है[४] यद्यपि रानडे मानते थे कि "मानव स्वभाव" में कुछ कमजोरियां या निर्बलताएं या "मानवीय-निर्णय की त्रुटियाँ" अवश्य होती हैं।[५] रानडे प्रत्येक मनुष्य में नैतिकता की चार श्रेणियों के तत्वों का होना स्वीकार करते हैं यथा "पाशविक वासना, प्रबुद्ध स्वार्थ भावना, उदार परोपकारिता और अन्त में, कर्त्तव्य भावना।" अर्थात् रानडे, एक समुच्चय के रूप में, नैतिकता को 'चार स्तरों वाला पदानुक्रम मानते थे, न कि मानव की प्रकृति का निर्माण करने वाली क्षमताओं के एक पुंज की इकाई मात्र।'[६] वासना इसकी सबसे निचली सीढ़ी की निर्मात्री है, प्रबुद्ध स्वार्थपरता तथा उदार परोपकारिता क्रमश: द्वितीय एवं तृतीय स्तर पर

---

१. वही, पृ.६७
२. वही, पृ.
३. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.६७
४. वही, पृ.६८
५. वही, पृ.१७०
६. वही, पृ.६८

हैं। चौथा और सर्वोच्च स्तर कर्त्तव्य भावना या अंतश्चेतना या मानव में अंतर्निहित "ईश्वर की वाणी" है।[१]

रानडे के इस कथन में कर्त्तव्य की काण्ट जैसी भावना परिलक्षित होती है कि–पाशविक वासनायें, प्रबुद्ध स्वार्थ भावना, उदार हितेच्छा और अन्त में, कर्तव्य भावना, ये सब सत्ता के अनेक अनुक्रम हैं जिनमें से प्रत्येक, उपरोक्त क्रम में, शक्ति में अपेक्षाकृत कम किन्तु सत्ता में श्रेष्ठतर है। शक्ति के नहीं बल्कि कर्त्तव्य के अनुपात में इनका सामंजस्यपूर्ण प्रयोग ही नैतिक आचरण के सारतत्व का निर्माण करता है।[२] अर्थात् उनकी नैतिक आचरण की अवधारणा में निम्नतर तत्वों के दमन के बजाय उनके सामंजस्यपूर्ण प्रयोग का समावेश था।[३] अतएव रानडे वासना को अनैतिक लालसा नहीं मानते थे, क्योंकि इसकी तुष्टि स्वयं ही प्रत्यक्ष आत्म परीक्षण के लिए आधारभूत है। अतएव, वासना मानव प्रकृति का अंग है। नैतिक कार्य का मूल प्रश्न (क्रक्स) नैतिक पदानुक्रम को निम्न स्तरों से उच्च स्तरों के अधीन लाना है जिससे कि मानव की नैतिक चेतना पूर्ण व्यवस्थित हो जाय।

रानडे का मत था कि इतिहास से सिद्ध होता है कि मानव नैतिकता के निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर अग्रसर होता रहा है।[४] इससे स्पष्ट होता है कि ईश्वरीय विधान नैतिक शासन है। यह शाश्वत विधान ही न्याय तथा समता, धर्मपरायणता तथा करुणा का भी विधान है।[५] यह आत्मा की क्षमताओं के उत्थान की ओर उसकी शक्तियों को परिपूर्ण बनाने को निरंतर सक्रिय रहता है।[६] ईसाई धर्म के मूल पाप तथा अंतरित पाप के सिद्धान्त को रानडे ने स्वीकार

१. वही, पृ.६९
२. डी. विशप द्वारा 'थिंकर्स ऑफ द इण्डियन रेनासां' में उद्धृत, पृ.९८
३. पी.जे. जागीरदार स्टडीज, पृ.६५
४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६५
५. वही, पृ.२३४
६. वही पृ.२६७

नहीं किया। इस संदर्भ में वे आदम व हौवा की कथा से भी असहमत थे। वे यह अवश्य स्वीकार करते थे कि मनुष्य प्रायः अहंकारी, स्वार्थी एवं निर्दयी होता है किन्तु इस प्रश्न पर कोई निर्णायक, संतोषप्रद उत्तर प्रस्तुत करना उन्हें दुष्कर प्रतीत होता था।

नैतिकता, भावनाओं के साथ ही, मानस (मस्तिष्क) के शुद्धीकरण की भी मांग करती है, क्योंकि नैतिकता के लिए बुद्धि का पूर्वाग्रहों तथा पूर्व-धारणाओं से मुक्त होना आवश्यक है।[१] नैतिकता की कसौटी यही है कि जो भी संकुचित करे वह बुरा और जो विशद बनाए वह श्रेष्ठ या श्रेयस है।

रानडे की अंतश्चेतना की अवधारणा

नैतिकता को रानडे ने विवेक, तर्कबुद्धि (रीजन) से सम्बद्ध किया जो दोनों ही मनुष्य में अन्तर्निहित हैं। इन्हें रानडे ने 'मूल्य-मानक-संबंध के रूप में प्रतिष्ठित किया।[२] विवेक मानव जाति का संकलित अनुभव है जो नैतिक चेतना को आचरण का एक अंतःप्रज्ञात्मक तथा पूर्ण या परम (एबसॉल्यूट) मार्गदर्शक बना सकता है।[३] 'विवेक तथा अंतश्चेतना को वे आचरण के एकमात्र मार्गदर्शक मानते थे, अंतश्चेतना निर्णय करती है कि हमें क्या करना चाहिए, विवेक बतलाता है कि किस प्रकार करें और इच्छा हमें संकल्प (निश्चय) की प्रेरणा प्रदान करती है।'

रानडे मनुष्य को अंतश्चेतना से युक्त प्राणी मानते थे। अंतश्चेतना मानव में विद्यमान ईश्वर की वाणी और एकमात्र वाणी है जिसे सुनने को हम बाध्य हैं।[४] अंतश्चेतना को युक्तियुक्तता पर प्राधान्य प्राप्त है और यह भी उतनी ही

---

१. वही, पृ.१५३-५४

२. एम.एन. झा -मॉडर्न पालीटिकल थॉट, पृ.

३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२०

४. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.६७

परिसीमित है।[१] प्रत्येक व्यक्ति अपनी नैतिक क्षमता के अनुपात में अंतश्चेतना के सुझावों से सामंजस्य स्थापित करता है और इस नैतिक क्षमता का निर्धारण उसकी हेतुवादिता (अथवा विवेकशीलता–रैशनैलिटी) के अनुपात में होता है।[२] (जैसा कि पहले लिखा जा चुका है) अंतश्चेतना मनुष्य को ईश्वर से जोड़ती है। यह संयोजन उसके समक्ष एक अन्य उच्चतर विश्व के द्वार उन्मुक्त करता है जहाँ न्याय और प्रेम सर्वोपरि शासक हैं। ईश्वर की सृष्टि में मनुष्य मात्र को ही अच्छे और बुरे के निर्णय तथा चयन की स्वतंत्रता प्राप्त है।[३] मनुष्य में अंतर्निहित अंतश्चेतना ही उसे अनुभव कराती है कि 'प्रदत्त स्वातंत्र्य के सम्यक प्रयोग के लिए वह उत्तरदायी है।' कर्त्तव्य तथा दायित्व की यह चेतना मानव में विद्यमान मानवेतर, प्रकृत्येतर, दैवी तत्व है। ये विशिष्टतासूचक लक्षण मनुष्य का उच्चतम गौरव तथा श्रेष्ठतम दायित्व हैं। ये ही विधि और शासन, नैतिक, आदर्शों और शिष्टाचार, सामाजिक एवं पारिवारिक व्यवस्था, साहित्यिक और वैज्ञानिक संस्कृति और धर्म तथा उपासना का आधार हैं।[४]

अंतश्चेतना ईश्वर के 'नैतिक शासन' की अनुशास्त्रियों में से एक है।[५] रानडे के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में अंतश्चेतना के रूप में विकसित नैतिक चेतना उसे आत्मानुशासन के माध्यम से 'मोक्ष' के लक्ष्य की प्राप्ति में समर्थ बनाती है। यह व्यक्ति की निन्दा करती है जब वह गलत कार्य करता है और जब वह सही मार्ग पर चलता है तो उसकी सहायता तथा मार्गदर्शन करती है।[६] (इस सन्दर्भ में पी. जे. जागीरदार के अनुसार, रानडे विशप बटलर तथा काण्ट से प्रभावित थे।[७])

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७८
२. टी. जगदीशन, विस्डम ऑफ मॉडर्न रिशी, पृ.२३४
३. वही, पृ.२६८
४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२०
५. वही पृ.२६५
६. वही, पृ.२०–२१
७. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.२३४

बटलर की एनॉलॉजी या उपदेशों के विवेचन से संबंधित, दक्कन कालेज के प्रो. सेलबी की पुस्तक की समीक्षा[१] (जो पूना की सार्वजनिक सभा की त्रैमासिक पत्रिका के जनवरी १८८२ के अंक में प्रकाशित हुई–पृ.४०–४४) रानडे के आचार शास्त्रीय (नैतिक, इथिकल) विचारों के निरूपण का सर्वश्रेष्ठ एवं ठोस स्रोत है। इन्द्रियानुभववादी मत के अनुयायी होने के नाते, प्रो. सेलबी ने उनका पक्षपातपूर्ण रूप ही प्रस्तुत किया था। प्रो. सेलबी का मत था कि सही और गलत के निर्विकल्प्य सिद्धान्तों में विश्वास भ्रामक है। अंतश्चेतना के आदेश सापेक्ष हैं, जो उन परिस्थितियों पर आधारित और परिवर्तनशील होते हैं जिनमें व्यक्ति स्थित होता है। इसके विपरीत, रानडे का दृष्टिकोण बटलर के इस मत के अनुरूप था कि 'ईश्वरवाद तथा निरपेक्ष (पूर्ण) नैतिकता विवेकसम्मत निश्चितता के विषय हैं और विवेकशीलता के प्रयोजन तथा व्यावहारिक आचरण के लिए पर्याप्त हैं।'[२]

रानडे ने समकालीन उपयोगितावादियों द्वारा प्रतिपादित भौतिक मानव की इस अवधारणा को तिरस्कारपूर्वक अस्वीकार किया कि आनन्द या सुख अर्जित करना तथा कष्ट से बचना ही प्रत्येक मानवीय कार्य का प्रेरक तत्व है। रानडे मानते थे कि 'कष्ट तथा क्षति उस सिद्धान्त के समक्ष नगण्य हैं जिनके लिए उन्हें सहन किया जाता है।'[३] वे इस निष्कर्ष पर भी पहुँचे कि 'अधिकाधिक जनों के अधिकाधिक सुख का सिद्धान्त' पर्याप्त नहीं है क्योंकि कितनी भी बड़ी संख्या हो कुछ न कुछ लोग अवश्य बचे रहेंगे।[४] इसके अलावा स्वार्थ उतना उत्प्रेरक बल नहीं है जितना कि कर्तव्य भावना।

अधिकतम जनों के अधिकतम हित के सिद्धान्त में विश्वास रखने वालों

---

१. वही, पृ.६५–६९

२. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.६६

३. वही, पृ.१७०

४. वही, पृ.६७

के मतानुसार उस समाज में नैतिकता का कोई स्थान नहीं था जिसमें दो ही सदस्य हों क्योंकि यदि एक की क्षति दूसरे के लाभ से संतुलित हो तो पाप-पुण्य के बीच अन्तर का कोई आधार नहीं रहेगा। अतः नैतिकता के विवेचन से संबंधित दोनों ही मत पूर्णतावादी (एबसाल्युटिस्ट) और इन्द्रियानुभववादी (इम्पीरिसिस्ट) रानडे की सम्मति में अर्धसत्य का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।[१] मिल ने भी बाध्य होकर स्वीकार किया है कि 'स्वार्थमय एवं निःस्वार्थ संतुष्टि के बीच, इन्द्रिय सुख और पुण्यात्मक आचरण के सुख के बीच केवल मात्रा का नहीं, प्रकार का भी अन्तर है।[२] रानडे मानते थे कि, 'यदि किसी दुर्भाग्यवश पृथ्वी पर दो ही विवेकशील व्यक्ति रह जायें तब भी नैतिकता के लिए, वर्तमान के ही समान, पूर्ण क्षेत्र रहेगा' क्योंकि मानव एक विवेकशील प्राणी है।

रानडे के मतानुसार, मनुष्य अपने जीवन में वही बनता है जो उसके विवेक का स्तर उसे बनाता है और इसके निर्धारण में सामाजिक पर्यावरण की भी भूमिका होती है।[३] दूसरे शब्दों में मनुष्य वही है जो उसे उसका विवेक बनाता है, किन्तु उसकी विवेकशीलता वही होती है जैसी उसका समाज निर्मित करे। अतएव नैतिक चेतना जबकि मनुष्य में अन्तर्निहित है तदपि उसके समाज की प्रकृति का उसकी नैतिक उपलब्धियों के स्तर पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। विवेक स्वतंत्रता को सीमित करता है और स्वयं आस्था द्वारा नियंत्रित होता है और नैतिक चेतना को इससे निश्चित सहायता मिलती है। वे मानते थे कि आस्था का कार्य बुद्धि के प्रयोग को नैतिक रूप से स्वीकार्य सीमा के अन्दर रखना है।[४] अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए रानडे ने कहा कि -'इच्छा की पूर्ति के लिए धनार्जन की उत्कट लालसा न तो अबुद्धिसंगत है

---

१. वही, पृ.६७

२. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.६७

३. वही, पृ.६८

४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७८

न अनैतिक।[१] किन्तु जब यह प्रयास अनैतिक परिणामों को अनदेखा कर देता है तो वह पाप के सिवाय और कुछ नहीं होता।' अतएव रानडे निर्धनता का विरोध करते थे, किन्तु विलासिता तथा ऐश्वर्य (लिप्तता) के जीवन को इससे भी बुरा मानते थे।[२] बुद्धि के अबाध प्रयोग से अनैतिक आचरण का जन्म न हो इसके लिए रानडे मानते थे कि सच्चे विवेक का प्रभाव केवल ईश्वर में आस्था को जन्म देने वाला ही होता है।[३] ईश्वरवादी होने के नाते वे धर्म (अथवा ईश्वर) के संदर्भ में आस्था एवं विवेक या बुद्धि को परस्पर विरोधी अथवा भिन्न नहीं मानते थे जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं। 'ईश्वर में आस्था विवेक से परे तथा उससे ऊपर नहीं है, बल्कि यह सत्यनिष्ठ एवं व्यावहारिक विवेक है।'[४]

वे स्वीकार करते थे कि ईश्वरवाद आदिम (प्राइमल, मूल) धार्मिक प्रश्नों, जैसे आत्मा की अनश्वरता, सृष्टि तथा ईश्वर की निस्सीमता के अंतिम उत्तर प्रस्तुत करने का दावा नहीं करता।[५] उनका आग्रह इतना ही था कि हम उन निष्कर्षों तथा सत्यों तक ही पहुंच सकते हैं जो व्यावहारिक दृष्टि से पर्याप्त तथा नैतिक विश्वास (निश्चितता-सर्टीच्यूड) के भागीदार हों।[६] इसी की आवश्यकता है और 'पूर्ण' (एबसाल्यूट) या परमसत्ता की खोज में मानव

---

१. एसेज इन इण्डियन इकानामिक्स, पृ.२१-२२
२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्मस, पृ.२७४
३. वही, पृ.६
४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७८
५. वही, पृ.२५६, २५७, २६० रानडे का कहना था कि पूर्ण (एबसाल्यूट) की खोज में मानव-मानस यहीं तक पहुंच सकता है। इससे अधिक की इच्छा या आशा-निराशा या संशयवाद को ही जन्म दे सकती है। उपलब्ध्य को स्वीकार कर हम उस मतान्धता तथा सर्वसत्तावाद से बच सकते हैं जो स्थापित धर्मों में दिखाई देता है। पृ. १२, १४
६. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.६६

मानस द्वारा उपलभ्य है। उपरोक्त तथ्यों में से कुछ इस प्रकार हैं -व्यवस्था, प्रकृति का नैरन्तर्य तथा एकरूपता, प्रकृति के लक्षणों (विग्रहों-एट्रीब्यूट्स) से संकेतित परमपिता (सुप्रीम बिंग) का अस्तित्व, विचार एवं वास्तविकता के बीच संगति अथवा विचार एवं उसके विषय (ऑब्जेक्ट) की संगतता, सार्वभौम तत्वों का तथ्य, आत्म या स्व (सेल्फ) का वास्तविक अस्तित्व और इस प्रकार मानव, प्रकृति तथा ईश्वर का त्रिक।[१]

समाज में परिवर्तन की दिशा

इस त्रिक में मानव के महत्व को ध्यान में रखते हुए रानडे की आकांक्षा थी कि मानव समाज में परिवर्तन की दिशा परम्परा के बन्धनों, निषेधों, प्रतिबन्धों, वर्जनाओं से स्वातंत्र्य की ओर हो परन्तु यह स्वतंत्रता व्यक्ति की निर्बलतर प्रकृति के बजाय उच्चतर शक्तियों की स्वतंत्रता थी जिसमें दायित्व एवं कर्तव्य की श्रेष्ठतर भावना समाहित होती है। यह व्यक्ति को आत्मनियंत्रण अथवा संयम की ओर प्रेरित करती है। कर्म की स्वतंत्रता इस शर्त द्वारा परिसीमित होती है कि वह अन्य की स्वतंत्रता का अतिक्रमण न करे और सामाजिक नैतिकता को आघात न पहुँचाए। रानडे के इन विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे मनुष्य के नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास को अथवा अंतश्चेतना की स्वतंत्रता को ही स्वातंत्र्य (लिबर्टी) मानते थे, अर्थात् 'हर ओर से, निर्बाध रूप से आत्मा की मुक्ति की दिशा में, मानव शक्तियों एवं क्षमताओं का विकास।'[२] 'अन्तश्चेतना के अधिकार राजनीतिक, सामाजिक युक्तियुक्तता से बढ़कर हैं, सर्वोपरि हैं।' अतः वे परम्पराओं-प्रथाओं, धर्म-ग्रन्थों, रूढ़ियों या महान आत्माओं जैसे बाह्य प्रमाणों या सत्ताओं से अधिक महत्व अंतश्चेतना को, अन्तरात्मा की आवाज को देते थे। अपने आचरण को इसके अनुरूप ढालकर ही मनुष्य गरिमावान बन सकता है। व्यक्ति की अंतश्चेतना, कर्तव्य

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१७

२. पी.जे. जागीरदार, स्टडीज, पृ.८

भावना के साथ मिलकर अपनी ईश्वर प्रदत्त स्वतंत्रता के सम्यक् प्रयोग में उसे सक्षम बनाती है। ईश्वर के साथ उसको जोड़ने वाली अंतश्चेतना गलत कार्य करने पर उसे टोकती है और सही होने पर संतोष प्रदान करती है। ईश्वरप्रदत्त 'स्वप्रयास तथा चयन की क्षमता' के बल पर मनुष्य अपने वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक संबंधों को नैतिकता के तकाजों के अनुरूप ढाल सकता है।

स्वतंत्रता और आत्मन् (सेल्फ)

मनुष्य को रानडे सामाजिक परिस्थितियों (अथवा पर्यावरण) का उत्पाद नहीं मानते थे क्योंकि इससे उसे परिवर्तन में सक्षम मानना कठिन होता। मनुष्य, उनकी सम्मति में, इच्छाओं व आवश्यकताओं के समक्ष असहाय भी नहीं होता क्योंकि इससे मनुष्य को चुनाव में सक्षम नहीं माना जा सकता। वे यह भी नहीं मानते थे कि मनुष्य संवेदनों के प्रति यांत्रिक रूप से अनुक्रिया करने वाला पदार्थ मात्र है। प्रत्येक व्यक्ति को रानडे एक आत्मा मानते थे अर्थात् जितने मनुष्य हैं उतनी ही आत्माएं हैं। आत्मा उनके मतानुसार, चेतना (स्प्रिट) थी न कि पदार्थ का रूपाकार (फार्म) या सक्रियता (एक्शन)। आत्मा को वे मानसिक तथा नैतिक क्षमता से सम्पन्न और अमर मानते थे।[१] न वे मनुष्य को कोशिकाओं का 'आत्माविहीन समुच्चय' मानते थे, न डार्विन के इस विकासवादी सिद्धान्त को स्वीकार करते थे कि 'मनुष्य प्राकृतिक पर्यावरण से अनुकूलन में समर्थ प्राणी मात्र है।' उनकी सम्मति में 'मनुष्य तथा लंगूर दो भिन्न प्राणी हैं।'

महानिस्सीम (परमात्मा) के एक अभिन्न पहलू के रूप में मानव विषयक उनकी अवधारणा इंगित करती है कि रानडे आत्मा की स्वतंत्रता को मानवता का अभिन्न अंग मानते थे। उनका कहना था कि मनुष्य से संबंधित ईश्वर का विधान नैतिकता का सामान्य विधान मात्र है जो मनुष्य में अन्तर्निहित चेतना

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६५-७२

(अंतश्चेतना) के माध्यम से कार्य करता है, परन्तु मनुष्य चयन के लिए तथा अंतश्चेतना के अनुसार कार्य करने या न करने के लिए स्वतंत्र है। ईश्वर ही एकमात्र शक्ति है, जो अन्ततः सफल होती है, किन्तु वह मनुष्य को कर्म की स्वतंत्रता प्रदान करता है। मानव की अंतर्निहित नैतिक चेतना को उसकी आत्मा (स्पिरिट) के आश्रय का रूप देकर रानडे ने स्वतंत्रता तथा नैतिकता को परस्पर पूरक बताया। अन्तर्भूत (नैतिक) अनिवार्यताओं की वाहक होने के कारण स्वतंत्रता पूर्ण या निरपेक्ष नहीं रहती, बल्कि जीवन के एक नैतिक ढांचे के भीतर स्वायत्तता मात्र बन कर रहती है क्योंकि यह हमारी इच्छा के विपरीत एक श्रेष्ठतर इच्छा के वश में है।[१] इसके फलस्वरूप, रानडे का कहना था कि, स्वतंत्रता, नैतिक तथा अनैतिक दोनों ही विकल्पों में से चयन की नहीं, बल्कि एकांतिक रूप से, नैतिक विकल्पों में से चयन की है।[२] पाश्चात्य ईश्वरवाद के अनुसार भी मनुष्य एक दैवी ढाँचे के भीतर स्वतंत्र है।[३] मानव को स्वतंत्र इच्छा प्राप्त है यद्यपि यह विभिन्न कारकों द्वारा आबद्ध है जिनमें से एक है अपनी इच्छा को दूसरों की समुचित इच्छा पर बलात् आरोपित न करना। ईश्वर को नैतिक शासक मानने की रानडे की अवधारणा स्पष्टतः मनुष्य की कर्म विषयक इस ऐच्छिक एवं सीमित स्वतंत्रता के विरुद्ध नही थी।[४]

मानव की ईश्वर प्रदत्त स्वतंत्रता को रानडे उसका गौरव और, उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हुए,[५] सबके साथ, सबकी सेवा के द्वारा, जीवन की सम्पूर्णता

---

१. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.१९४

२. एम.एन. झा, पृ.३७

३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६६

४. वही, पृ.२६५-६६ "रानडे ने यह विचार पाश्चात्य ईश्वरवाद से ग्रहण किया कि मानव एक ब्रह्माण्डीय ढाँचे के भीतर स्वतंत्र है।"

५. फिलासफी ऑफ इण्डियन थीज्म, रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२४

के लिए प्रयत्न करना मानव का कर्तव्य मानते थे। उनकी आकांक्षा थी कि प्रत्येक व्यक्ति मानव मात्र के प्रति प्रेम की भावना को विकसित करे तथा, अन्य सद्गुणों द्वारा उसे पवित्र बनाते हुए, अपने उत्थान तथा समाज के उत्कर्ष के लिए प्रयास करे। विवेकशील व्यक्ति को ही वे इसमें सक्षम मानते थे और विवेकशीलता के विकास में प्रार्थना आदि को सहायक मानते थे।[१] एक सीमा तक (जहाँ तक अपने कर्मों का दायित्व स्वयं वहन करने का संबंध है) मनुष्य को स्वतंत्र मानते हुए भी, ईश्वरवादी रानडे यह भी स्वीकार करते थे कि मनुष्य पर उसके देश व काल का, समाज का, प्रारम्भिक शिक्षा व सम्पर्क का तथा भौतिक मनोवृत्तियों का नियंत्रणकारी प्रभाव पड़ता है। ये उसकी अचेतन स्वतंत्रता को नियंत्रित (प्रति-बन्धित या परिसीमित) करते हैं। विभिन्न धार्मिक प्रणालियों में पुद्गल (पदार्थ-मैटर) के सत्व, रजस और तामस त्रिगुणों, अच्छाई व बुराई के सिद्धान्तों, मानवेतर प्राणियों (देवताओं, दानवों) के दबाव और संघर्ष के रूप में कर्म या प्रारब्ध की कल्पना है जो उसे, भाग्य (होनी) या नियति (डेस्टिनी) के रूप में, विभिन्न दिशाओं में खींचते हैं। ईश्वरवादी अप्रतिबन्धित स्वतंत्र कर्त्तापन और भाग्यवाद के चरम सिद्धान्तों के बीच का मार्ग ग्रहण करते हैं।[२]

रानडे मानते थे कि मनुष्य देह तथा आत्मा से निर्मित है। प्रत्येक व्यक्ति में एक आत्मा है जो ईश्वर से और शरीर से भिन्न है तथा विविध शक्तियों एवं भावनाओं या अनुभूतियों से युक्त है।[३] आत्मा अमर है। प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान आत्मा, बुद्धि, इच्छा, गुण-दोष के अनुसार कार्य करती है। उसका प्रयास परम शक्ति की प्राप्ति का होता है।[४] जिस प्रकार ईश्वर प्रकृति पर प्रभाव

---

१. वही, पृ.२६८-७९

२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६८

३. वही, पृ.२६४-६५

४. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.१९४

डालता है उसी प्रकार आत्मा को भी प्रभावित कर उसे पवित्र एवं उदात्त या सौम्य बनाता है।[१] अपने आगामी अस्तित्वों में आत्मा की परिस्थिति इस जन्म में मनुष्य के कर्मों द्वारा निर्धारित होगी।[२] आत्मा की सही-सही प्रकृति, उसके पूर्व-अस्तित्वों और आगामी अस्तित्वों की प्रकृति एक अभेद्य रहस्य है। इनके चतुर्दिक एक गहरा, घना आवरण है जिसे हटाना निषिद्ध है।[३] हमारी वर्तमान स्थिति परीक्षण तथा तैयारी की है या पुण्य तथा धर्माचरण में परिवीक्षा (प्रोबेशन) तथा अनुशासन की अवधि है जिसके द्वारा हम अस्तित्व की भावी स्थितियों के लिए और अधिक भली-भाँति तैयार होते हैं।[४] इस प्रकार पवित्रीकृत आत्मा का ईश्वर के समक्ष उपस्थित होना ही मोक्ष है। यह शुद्धीकरण, बजाय किसी अन्य की मध्यस्थता, बलिदान या प्रायश्चित के, अपने प्रयत्नों से ही होता है। मोक्ष की प्राप्ति ईश्वर कृपा से, आस्था, भक्ति, प्रार्थना, ईश्वरीय विधान के समक्ष समर्पण, ईश्वर व मानव के प्रति प्रेम तथा सद्‌गुणों व सदाचार (धर्मपरायणता) से होती है।[५]

अवतार और पैगम्बर के सन्दर्भ में उनकी सम्मति थी कि ईश्वरवादी के लिए मध्यस्थ की या ईश्वर-प्रेषित रक्षक की धारणा उतनी ही अग्राह्य है जितनी की अवतार की।[६] अवतार को वे अनावश्यक एवं अविश्वसनीय मानते थे। ईश्वर अपने प्रभाव को प्रचुर उदारशीलता के साथ अनुगृहीत व्यक्तियों पर आरोपित करता है और ये व्यक्ति उसके प्रभाव को मूर्तिमान करते हैं।

ईश्वरवादी पाप या बुराई के तथ्य को स्वीकार करता है परन्तु इसे वह

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६५
२. वही, पृ.२६७
३. वही, पृ.२६७
४. वही, पृ.१३६, २६६
५. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७०
६. वही, पृ.२७

किसी मूल या आदि कारण से नहीं जोड़ता क्योंकि वह ईश्वर (डाइटी) की प्रकृति से सम्बन्धित विश्वास से असंगत है।[१] जैसाकि पहले कहा जा चुका है, इसे चरित्र तथा आत्मा को पुष्ट करने वाला कहा जा सकता है यद्यपि इसका पूर्ण संतोषप्रद उत्तर देना संभव नहीं है।[२] ईश्वर जड़-चेतन सभी का दैवी विधान द्वारा नियमन करता है-यह दैवी विधान नैतिक शासन है। हमारे नैतिक तथा अनैतिक आचरण का परिणाम भौतिक सुख-दुःख तथा अंतरात्मा के संतोष, पतन या उत्थान के रूप में प्रकट होता है। इसकी मानव की कर्म की स्वतंत्रता से कोई विसंगति नहीं है क्योंकि अपने कर्मों के अच्छे-बुरे परिणामों को ध्यान में रखकर हम अपना मार्ग तय कर सकते हैं। ब्रह्म, अथवा कार्य-कारण के रूप में, प्रकृति के विधान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है।[३] किसी दूसरे को इसके लिए न तो श्रेय दिया जा सकता है न उस पर दोषारोपण किया जा सकता है। तथापि रानडे ने पुनर्जन्म या कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया और इनसे सम्बद्ध जाति प्रथा का विरोध किया। उनका कहना था कि पैतृकता तथा जन्म अनेक बातों को स्पष्ट करते हैं किन्तु कर्म का विधान सब बातों की व्याख्या नहीं करता।[४] रानडे कर्म-नियतत्ववाद (कर्म डिटरमिनीज्म) के सिद्धान्त के कट्टर विरोधी थे जो आत्म (सेल्फ) की निष्क्रियता का उपदेश देता है। नया विचार यह होना चाहिए कि कर्म का यह विधान 'सम्यक् रूप से प्रशिक्षित (ट्रेन्ड) इच्छा के द्वारा नियंत्रित हो सकता है।'[५]

---

१. वही, पृ.२६९
२. वही, पृ.२६९, मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.५७-५९
३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६८, २७७
४. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.१९५
५. वही, पृ.१९४-९५. स्पिनोजा तथा लीब्नित्ज के विपरीत रानडे मानव-आत्मा को कुछ अंशों में, स्वाधीन तथा स्वतंत्र इच्छा शक्ति से सम्पन्न मानते थे-धर्म पर व्याख्यान; रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६२

वैराग्य का खण्डन

रानडे प्रकृति को माया तथा जीव को सर्वोच्च सत्ता का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं मानते थे। परम सत्ता से सम्बद्ध मानव और प्रकृति की यथार्थता को वे स्वीकार करते थे।[१] इस विचार को वे अनीश्वरवाद (नास्तिकतावाद) का निकृष्ट रूप मानते थे कि सम्पूर्ण मानव जीवन निरर्थक तथा स्वप्न मात्र है और हम इससे अधिक सम्बद्ध नहीं हैं; उनका कहना था कि वैराग्य (विरक्ति-एसेटिसिज्म) सामान्य रूप से स्वीकार्य नहीं है। यह प्रायः पलायनवाद तथा निजी उत्तरदायित्वों से बचने जैसा है।[२] इसके प्रतिकारक के रूप में उन्होंने 'हमारी प्रकृति की सच्ची गरिमा' की तथा 'मानव की उच्च नियति की स्वस्थ चेतना' को प्रतिष्ठापित किया।[३] रानडे का मत था कि इस लोक में हमारा अस्तित्व सप्रयोजन है और इसका मार्ग दर्शन अनुशासन के द्वारा होना है।[४]

जीवन की प्रकृति एवं प्रयोजन

रानडे का कहना था कि 'हमारे अस्तित्व की वर्तमान स्थिति परीक्षण एवं तैयारी की है, सद्गुण एवं धर्मपरायणता में परिवीक्षा तथा अनुशासन की है, जो हमें अस्तित्व के (एक) भावी क्षेत्र के लिए सुयोग्य बनाती है। 'कठिनाइयाँ, प्रलोभन और संकट के कारण हममें आत्म-त्याग और अनुशासन की तथा भावी सुख के लिए वर्तमान वेदना के समक्ष समर्पण की आवश्यकता है; हमारी वर्तमान स्थिति, इस कारण न केवल परीक्षण की अपितु अनुशासन की भी है।'[५]

---

१. रानडे, रिवाइवल एण्ड रिफार्म (राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन, १८९७) ग्यारहवें अधिवेशन में भाषण, पृ.१९५-६

२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७३-७४

३. रानडे, रिवाइवल एण्ड रिफार्म (राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन, १८९७) ग्यारहवें अधिवेशन में भाषण, पृ.१९६

४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.११७

५. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६६

स्वस्थ, अनुशासित सामाजिक जीवन को रानडे संन्यास से श्रेष्ठ मानते थे। भारत में प्रशंसनीय मानी जाने वाली विरक्ति की प्रवृत्ति (एसेटिसिज्म) की रानडे ने निन्दा की, क्योंकि उनके मतानुसार, यह उस कर्त्तव्य भावना द्वारा उत्प्रेरित नहीं होती जिसकी पूर्ति केवल अपने सह-प्राणियों की सेवा के माध्यम से हो सकती है, बल्कि केवल रूखी (कर्ट) स्वार्थपरता से प्रेरित होती है। वैराग्य (विरक्ति) या अतिसंयम का प्रयोग और तापस जीवन के गुण इस विश्व में हमारे अस्तित्व के प्रधान लक्ष्य को विफल कर देते हैं। यह हमें स्वशासन की शिक्षा तथा अनुशासन से वंचित करता है जिसे हममें विकसित करने की प्रवृत्ति सामाजिक जीवन रखता है।[१] वे वैराग्य को मार्गभ्रष्ट प्रयास के साथ ही, अनैतिक कार्य भी मानते थे, क्योंकि इसमें मनुष्य अपनी कर्त्तव्य भावना के निर्देशों से विमुख होता है तथा यह पलायनवाद है। वाटकिंस के अनुसार रानडे ने पश्चिम से यह विचार ग्रहण किया कि मोक्ष संसार का त्याग करने में नहीं, वरन् अपने जीवन को उत्तरदायित्वपूर्ण आचरण के अवसर के रूप में देखने में है।[२] परन्तु भारतीय परम्परा में इसके तत्त्व विद्यमान हैं और रानडे उनसे परिचित थे।

रानडे की मोक्ष विषयक अवधारणा

रानडे ने मोक्ष अथवा परमानन्द, तथा ईश्वर और सामान्य जन के लिए सुगम साहचर्य का आदर्श स्वीकार किया और इसके साधन के रूप में, भक्तियोग को अपेक्षाकृत श्रेष्ठतर बतलाया। मोक्ष से उनका आशय न तो वासनारहित[३] निर्वाण की स्थिति से था, न इन्द्रिय सुख की स्थिति से। ईश्वर

---

१. वही, पृ.२७३

२. एफ. वाटकिन्स, द पॉलीटिकल ट्रेडीसन आफ द वेस्ट, पृ.४४

३. यह भी उल्लेख मिलता है कि, रानडे का कहना था कि, कुल मिलाकर, हम यह तो कह सकते हैं कि, मोक्ष क्या नहीं है, किन्तु उतनी ही निश्चितता से यह नहीं कह सकते कि यह क्या है?

में पूर्णरूप से लय होना भी उनकी दृष्टि में मोक्ष नहीं था। इन्द्रिय वासनाओं तथा मानसिक विकारों से ऊपर उठने और, इसके फलस्वरूप, ईश्वर के श्रेयस्कर सान्निध्य में रहने को ही वे मोक्ष मानते थे अर्थात् पवित्रीकृत (शुद्ध) आत्मा का ईश्वर के समक्ष उपस्थित होना। ईश्वर के सान्निध्य के लिए प्रार्थना[१] ध्यान, सत्संग, पश्चाताप तथा आत्मशुद्धि आवश्यक है। मंदिरों में सामूहिक उपासना, आराधना तथा जन्म, मृत्यु, विवाह आदि से सम्बन्धित संस्कार लाभप्रद हो सकते हैं किन्तु, संन्यास, गुरुओं, पैगम्बरों और चमत्कारों में विश्वास को वे अनावश्यक मानते थे।[२] किसी अन्य की मध्यस्थता या बलिदान या प्रायश्चित के बजाय वे निजी प्रयत्नों से ही शुद्धीकरण में विश्वास रखते थे। उनकी सम्मति में आंतरिक आध्यात्मिक अनुभूति ही मोक्ष का सार है अथवा आध्यात्मिक व्यक्तित्व की पूर्णता ही मोक्ष है। श्रद्धा, भक्ति, प्रार्थना, ईश्वर तथा उसकी अनुकम्पा में विश्वास और मानव जाति के प्रति प्रेम को वे मोक्ष का मार्ग मानते थे। जिस भक्ति परम्परा तथा भक्तिमार्गी संतों का उन्होंने अध्ययन किया था उनके विचारों, भावनाओं तथा कार्यों का आधार ईश्वर के प्रति आत्म समर्पण

---

१. ईशोपासना (प्रार्थना) में विश्वास करने वाले रानडे प्रार्थना समाज में प्रार्थना कराते थे और उसके दीप्तिमान नक्षत्र थे। –रमाबाई रानडे, हिज वाइफ्स रेमिनिसेन्सेज, पृ.१५०–५२। ईश्वर की अनुकम्पा में उनकी आस्था थी। १८९१ में जब प्रार्थना समाज का नाम ब्रह्म समाज रखना प्रस्तावित किया गया तो इसका विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि 'समाज प्रार्थना में विश्वास करता है, इससे चिरकाल से परिचित है और प्रार्थना को ईश्वर की प्राप्ति का साधन मानता है। वैयक्तिक प्रार्थना से आत्मा एवं मानस का उत्थान और सार्वजनिक या सामूहिक प्रार्थना से बन्धुत्व एवं भ्रातृत्व-भावना का उद्रेक होता है और ईश्वर के बोध में सहायता मिलती है।' उन्होंने यह भी कहा कि प्रार्थना करना हमारा कर्त्तव्य है किन्तु इसका फल ईश्वर पर छोड़ देना चाहिए। (रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६५–७४)

२. जेम्स केलाक द्वारा उद्धृत, पृ.१४५–४६

था। उनका कहना था कि मनुष्य इस शरीर में अथवा मृत्योपरान्त इस प्रकार के श्रेयस्कर मोक्ष का आनन्द उठा सकता है।

उनके सामाजिक विचार इन्हीं धार्मिक सिद्धान्तों के अनुगामी थे। उनका मत था कि 'मनुष्य की दिव्य प्रकृति और मानवमात्र की समानता, से सहज रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव समाज, जो मनुष्य की ईश्वर प्रदत्त सामाजिक प्रवृत्ति से उत्पन्न हुआ है, वह भी दैवी प्रकृति का है। इसलिए व्यक्ति तथा समाज की प्रगति, नैतिक प्रगति है। अतएव उन परम्पराओं–प्रथाओं, रीति–रिवाजों, संस्थाओं और कार्यों को दूर करना होगा जो इस प्रगति में बाधक हैं और मनुष्य के दैवी स्वरूप के तथा उचित व अनुचित की चेतना के विपरीत हैं। ईश्वर प्रदत्त 'स्वप्रयास तथा चयन की क्षमता के बल पर' मनुष्य अपने वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक सम्बन्धों को नैतिकता के तक़ाजों के अनुरूप ढाल सकता है।

वास्तविकता एवं जीवन के प्रति यह कर्मशील दृष्टिकोण सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन के सम्बन्ध में विचार का मार्ग प्रशस्त करता है।[१] उनकी धारणा थी कि जबकि संन्यास हमें स्वशासन की शिक्षा और संयम से वंचित करता है[२] वहीं सामाजिक जीवन हमें सहिष्णुता आत्म त्याग और प्रेम के कर्त्तव्य की शिक्षा[३] और शुचिता, सेवा तथा श्रद्धा से युक्त चरित्र विकसित करने की प्रेरणा देता है; साथ ही, उत्तरदायित्व एवं मानव गरिमा का पोषण करने को तथा संकल्प, प्रेरणा और सचेत प्रयत्नों के द्वारा, आत्मोन्नति के लिए प्रोत्साहित करता है।[४] अतः रानडे का आग्रह था कि हम अपनी शारीरिक शक्तियों को पुष्ट करें, अपना हृदय न्याय की भावना से परिष्कृत करें, अपनी

---

१. पी.जे. जागीरदार–स्टडीज, पृ.४८

२. ए थीस्ट्स कन्फेशन ऑफ फेथ, पृ.२५०–७८

३. फिलासफी ऑफ इण्डियन थीज्म रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२५

४. रिवाइवल एण्ड रिफार्म, रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१५६–१७८

बुद्धि को पूर्वाग्रहों, पक्षपातों तथा अन्धविश्वासों से मुक्त करें,[१] और ध्यान रखें कि हमारे विचार, हमारी वाणी और हमारे कार्य मानवीय प्रेम से अनुप्राणित हों।[२] हमारा आचरण व उपासना, जहाँ आवश्यक हो, परम्परा के बन्धन से मुक्त हो तथा यथासंभव हमारी अंतश्चेतना के प्रतिमान के अनुरूप हो। इस प्रकार, अपनी शक्तियों को विकसित कर, हमं अपने प्रयत्नों द्वारा अपने मार्ग की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने को अग्रसर हों।[३]

हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता

१८७८ तक रानडे पाश्चात्य प्रभाव के कारण भारतीय विद्वत्ता को हेय मानते रहे किन्तु तत्पश्चात् उनके विचारों में आकस्मिक परिवर्तन आया। मानव इतिहास में धार्मिक सत्य के ज्ञान की प्रगति का उल्लेख करते हुए उन्होंने इंगित किया कि भारत में ही विश्व के धार्मिक सत्य का ज्ञान विकसित हुआ और भारत विभिन्न धर्मों का उद्गम एवं संगम स्थल रहा है। विश्व के महान धर्मों ने यहाँ जन्म लिया और आज वे पुनः बन्धुओं के समान मिल रहे हैं और इस उच्चतर व्यवस्था के स्वागत के लिए तैयार हैं जो सबको एकीकृत तथा अनुप्राणित करेगी।[४]

डा. मिलर ने भी मद्रास में अपने भाषण में कहा था कि, ईसाइयों को स्मरण रखना चाहिए कि, किसी भी मिशनरी के इस देश की धरती पर पाँव रखने से पहले ही ईश्वर भारत में सक्रिय था और, अपनी समस्त भ्रष्टताओं के बावजूद, हिन्दू धर्म प्रणाली में दैवी सत्य के तत्व विद्यमान हैं। इस पर टिप्पणी करते हुए 'क्रिश्चियन वर्ल्ड' ने लिखा कि भारत, ब्रिटिश या ईसाई संगठनों के आदेश पर अपने विचारों की समस्त 'उर्वर भूमि' या रूझान का

---

१. तेलंग स्कूल ऑफ थॉट, रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१५३
२. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.२४६ एण्ड रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म्स, पृ.३०३
३. वही, (मिशसेलेनियस), पृ.२४६-४७
४. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.१२६

त्याग नहीं करेगा, बल्कि इन संगठनों में प्रतिष्ठापित दैवी जीवन को स्वयं में समाविष्ट कर लेगा।[१] बम्बई के प्रसिद्ध समाज सुधारक दादोबा पाण्डुरंग के विचारों का विश्लेषण करते हुए रानडे ने कहा कि 'ईसाई धर्म में जीवन मृत्यु की समस्याओं का उचित निराकरण नहीं मिलता। प्राचीन हिन्दू धर्म, दर्शन एवं रहस्यवाद दोनों ही दृष्टियों से, ईसाई धर्म से श्रेष्ठ है।'[२] १८८६ में रानडे ने, मद्रास में, 'कर्त्तव्य के हिन्दू आदर्श' पर भाषण में कहा कि 'हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य किसी समाज में कर्तव्यों पर इतना अधिक बल नहीं दिया गया है।'[३] १८८७ में उन्होंने कहा कि 'ईसाइयों के धर्म से भिन्न, हिन्दुओं का धर्म उन्हें रोटी के लिए प्रार्थना करना नहीं सिखाता। हमारा धर्म कहता है कि हम ईश्वर द्वारा इस संसार में सुख का उपभोग करने के लिए नहीं अपितु इसलिए भेजे गये हैं कि हम आगामी जीवन की तैयारी कर सकें।' हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को ही वे हर क्षेत्र में भारतीयों की श्रेष्ठता का कारण मानते थे।

हिन्दू धर्म रानडे का धर्म था किन्तु यह हिन्दू धर्म ऐसा था जिसे समस्त कलुषों से शुद्ध किया गया हो और आधुनिक ईश्वरवादी दर्शन के प्रकाश में जिसकी पुनर्व्याख्या की गयी हो। जाति प्रथा तथा अन्य अवांछनीय सामाजिक प्रथाओं को प्रदत्त धार्मिक स्वीकृति या मान्यता से रानडे दुःखी थे उनका प्रबल आग्रह था कि जनप्रचलित हिन्दू धर्म मन-मस्तिष्क के शुद्धीकरण की अपेक्षा धार्मिक औपचारिकताओं, कल्पाचारों तथा बाह्य अथवा स्थूल तत्वों से अधिक बंधा हुआ था।[४] इसके साथ ही उनका यह भी दृढ़ मत था कि कुसंस्कार-पूर्ण तौर-तरीके तथा बुद्धि विरोधी अमानुषिक रीति-रिवाज, जो हिन्दू धर्म में प्रविष्ट हो गये थे, इस धर्म की पुरातन प्रकृति के विपरीत थे जिनके लिए

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२५
२. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.५७-५९
३. पी.जे. जागीरदार-स्टडीज, पृ.१२
४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१२

प्राचीन काल के संहिताकारों को दोष नहीं दिया जा सकता। 'यह हमारा अपना दोष है। यह हमारी कमजोरियों के कारण प्रचलित हुए और; प्राचीन स्वस्थ नियमों के स्थान पर दुराचारों का प्रचलन हो गया।'[१] वे मानते थे कि भारत का राष्ट्रीय मानस आध्यात्मिक तथा धार्मिक साँचे में ढला है जो इसे, आकांक्षा के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में, इस जगत और इसकी सम्पदा व शक्ति की उपासना में निमग्न नहीं होने देता, बल्कि परलोक को ही प्रधान विश्राम स्थल मानता है। अन्त में भारतीय ईश्वरवाद सबके प्रति सहिष्णुता की, आत्म त्याग की, न केवल मानवों के प्रति वरन् समस्त जीवित प्राणियों के प्रति, प्रेम व कर्त्तव्य की सीख देता है।[२]

रानडे के मतानुसार, अन्य धर्मों के ही समान, हिन्दू धर्म के उद्‌विकास में भी प्रक्रिया सदैव उच्चतर रूपों की ओर प्रवृत्त करने में सक्रिय रही है जिसमें एक अद्वैतात्मक ईश्वर की पूजा-आराधना का स्थान सर्वोच्च है। भारतीय ईश्वरवाद अथवा भागवत धर्म के क्रमशः विकास पर प्रकाश डालते हुए रानडे ने लिखा कि मूर्त तत्वों की पूजा-उपासना से आगे बढ़कर भारतीय ईश्वरवाद, तत्वों पर शासन करने वाली शक्ति की उपासना में विकसित हुआ। यह शक्ति नैतिक और आदर्श भव्यता में आवृत्त हो गयी, पुराने देवता और तत्व निम्न श्रेणी के स्वत्वों (बीइंग्स) और देवताओं (डाइटीज) में परिणित हो गये। उपनिषदों ने मानव आत्मा की दैवी प्रकृति को सर्वप्रथम सूत्रबद्ध या निरूपित किया और इसे समरूपता की सीमा तक ले जाया गया।[३] उक्त विकास में हिन्दू धर्म ने उन्मुक्त रूप से अन्य धर्मों के विचारों एवं भावों को आत्मसात् किया[४] तथापि, सक्रिय

१. वही, भूमिका, पृ.१४
२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२५
३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२२-२३
४. रानडे ने भारतीयों के धार्मिक विवेक तथा नैतिक महत्ता को उन्नत बनाने में बौद्धमत तथा इस्लाम के संघात के योगदान को मान्य किया है।-रिलीज़स एण्ड सोशल रिफार्म

रूप से कार्यरत ऐतिहासिक धर्मों के अभिसरण या केन्द्राभिमुखता के बावजूद, इसने अपना विशिष्ट स्वरूप कभी नहीं खोया।[१] (इसके साथ ही वे मानते थे कि, ईश्वरीय-विधान के अन्तर्गत, हमें निर्धारित ध्येय की पूर्ति के लिए प्रशिक्षित एवं अनुशासित किया जा रहा है)।[२]

इस देश में समस्त धर्ममतों और सभ्यताओं का संगम या सम्मिश्रण हुआ है, सभी आध्यात्मिक विचार और विश्वास यहाँ हैं, सभी सामाजिक और राजनीतिक प्रयोग (परीक्षण) बड़े पैमाने पर किये जा रहे हैं। यही एकमात्र देश है जहाँ इन सभी धर्ममतों के हजारों, लाखों, करोड़ों प्रतिनिधि या अनुयायी शांतिपूर्वक साथ रहते हैं और, सबके प्रति सहिष्णुता की भावना के साथ, परस्पर उदारता, विद्या और भव्यता का विनिमय करते दिखते हैं।

भागवत धर्म के लक्षण निरूपित करते हुए रानडे ने इसकी सर्वप्रथम विशेषता इसके अनैतिहासिक चरित्र को बताया। यह किसी संत या पैगम्बर विशेष से जुड़ा नहीं है, यद्यपि इसमें सभी संतों-पैगम्बरों के प्रति श्रद्धा का स्थान है। यह किसी अवतरण या प्राकट्य विशेष से नहीं बंधा है, बल्कि सभी अवतरणों के सर्वश्रेष्ठ प्रभावों के प्रति उन्मुक्त है। इसके साथ ही अवतरण एक स्थायी प्रवाह है जो कभी अवरुद्ध नहीं होता। सबसे बढ़कर, भारतीय ईश्वरवाद की आधारशिला है 'विश्वात्मा के साथ व्यष्टि आत्मा का प्रत्यक्ष संयोग' जिसके साथ यह आस्था, आशा तथा प्रेम के सूत्रों द्वारा आबद्ध है। 'कर्म' का संशोधित विधान, जो इसे नियतिवाद से पृथक करता है और जो अतीत को वर्तमान एवं भविष्य से जोड़ता है, इस देश में सर्वश्रेष्ठ रूप में समझा गयां यद्यपि कभी-कभी इसके अतिर्कपूर्ण निष्कर्ष भी निकाले गये।[३]

रानडे के अनुसार भागवत धर्म का एक विशेष लक्षण था इसका

---

१. हेमशठ द्वारा उद्धृत, पृ.१८३
२. तैलंग स्कूल ऑफ थॉट : रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१४६
३. वही, पृ.२४

विरोधात्मक (प्रोटेस्टेण्ट) चरित्र। एक के बाद एक अनेक संतों ने, अपने जीवन में तथा उपदेशों में, उन वैचारिक प्रवृत्तियों एवं कर्म विषयक सिद्धान्तों का विरोध एवं तिरस्कार किया जिनमें हमारे धर्म की सच्ची भावना को शुष्क या रूढ़ बनाने की तथा ऐसा मानवीय आवरण प्रदान करने की बद्धमूल प्रवृत्ति थी जो हमारी दृष्टि से धर्म के सुनिश्चित दैवी तत्व को ओझल करने वाली थी।[१]

रानडे की सम्मति थी कि इस देश को अनेक धर्मों व धार्मिक आन्दोलनों की जन्मभूमि बनाने वालों को अनुप्राणित करने वाली 'अग्नि' अभी बुझी नहीं थी। समकालीन 'समाज' आन्दोलन को रानडे भागवत धर्म का धुंधला प्रतिबिम्ब तथा विनम्र शाखा मानते थे।[२] रानडे का विश्वास था कि जब हृदय व मस्तिष्क के बीच, शरीर व आत्मा के बीच, तादात्म्य स्थापित होगा तो भारतीय एकेश्वरवाद, एक महान शक्ति के रूप में, २५ करोड़ स्त्री–पुरुषों को अविच्छेद्य सूत्र में आबद्ध करेगा। राष्ट्रीय धर्ममतों के ऐतिहासिक मतभेद या अन्तर, स्थापत्य की विभिन्न शैलियों के रूप में, अवश्य बने रहेंगे, किन्तु शैली और रूपाकार का भेद, प्रयोजन की आध्यात्मिक एकता में विघ्न नहीं डालेगा। तत्पश्चात् समस्त धर्मों का संयोजन होगा; सब देशों के लोग कहेंगे–'ईश्वर का राज्य स्थापित हो गया और स्वर्ग धरती पर उतर आया,[३] जिस समय हिन्दू धर्म पर ईसाई मिशनरियों द्वारा निरन्तर प्रहार हो रहे थे उस समय उनके इस संदेश ने भारतवासियों के मानस में, अपनी धार्मिक परम्परा के प्रति गर्व की भावना उत्पन्न करने के साथ ही, उस पर पुनर्विचार करने की भी प्रेरणा दी।

उनके धार्मिक विचारों में सबके प्रति प्रेम एवं सहिष्णुता की भावना झलकती है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि उन्होंने इन्हें आचरण में

---

१. भूमिका–रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१९९

२. रिलीजस एण्ड-सोशल रिफार्म, पृ.११६

३. वही, पृ.१३३

उतारने का भरसक प्रयास किया।[१] रानडे को हिन्दुत्व पर गर्व था और वे भागवत धर्म के निष्ठावान भक्त थे, किन्तु उन्होंने अपने मन को हर प्रकार की ऐसी संकीर्णताओं और विश्वासों से मुक्त कर लिया था जिनकी स्थापना या पुष्टि तर्क से नहीं की जा सकती थी।[२] हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता से परिचित होने पर उनमें नवीन राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास हुआ। संकीर्ण हिन्दू राष्ट्रवादी विचारक के बजाय, वे सुधारवादी तथा वैचारिक प्रगति के अग्रदूत बने।[३] उनके उदारवादी विचारों ने उन्हें मानव गरिमा को अक्षुण्ण रखने वाले विचारों एवं कार्यों से दूर नहीं होने दिया।[४]

अस्तु, गहन रूप से धार्मिक होते हुए तथा हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता में विश्वास करते हुए भी रानडे रूढ़िवादी धर्मदर्शन और रहस्यवाद दोनों से ही मुक्त थे। धर्म तथा तत्व मीमांसा के प्रति उनका रुख मतवाद से मुक्त था।[५] उनका भक्ति धर्म का विवेचन भी सदैव तर्कसंगत होता था। उनकी ऐतिहासिक रचनाओं में हमें महाराष्ट्र में इस्लाम के धार्मिक और सांस्कृतिक योगदान के संबंध में पूर्वाग्रहों को दूर करने का साहसपूर्ण प्रयास दिखता है।[६] बौद्ध धर्म, इस्लाम तथा ईसाइयत के प्रभाव को वे मान्य करते थे। उनका मत था कि बौद्ध धर्म तथा इस्लाम ने हिन्दुओं की सार्वभौम अथवा सहिष्णु अवधारणा में उपयुक्त संशोधन, परिवर्तन किये थे और अब ईसाइयत ने यह कार्य आरम्भ

---

१. भूमिका–रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१७
२. डा. ताराचन्द, भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, भाग–२, पृ.३५४–५५
३. डा. पुरुषोत्तम नागर, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, (जयपुर, १९८०), पृ.१०२
४. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.१७२
५. पी.जे. जागीरदार–स्टडीज, पृ.३१
६. रानडे–द राइज ऑफ मराठा पावर, १९७४, पृ.६९

किया था।[१] इन धर्मों के संघात ने भारतीयों के धार्मिक विवेक और नैतिक महत्ता को ऊँचा उठाया।[२]

बौद्ध धर्म को रानडे हिन्दुत्व का ही अंग मानते थे। उनका विचार था कि 'बुद्ध ने किसी नये धर्म या सम्प्रदाय को जन्म नहीं दिया बल्कि हिन्दुत्व में ही सुधार का प्रयास किया।[३] लोगों के मानस पर बुद्ध की इतनी सुदृढ़ पकड़ थी कि जहाँ भी वे जाते थे सैकड़ों–हजारों व्यक्ति महान शिक्षक के रूप में उनका अनुसरण करते थे। उनके द्वारा प्रवर्तित आन्दोलन की स्थायी सफलता, जो विश्व के इतिहास में अद्वितीय है–का यही कारण था।'[४] बौद्धों ने मानव प्रकृति के आदर्श पक्ष को सशक्त बनाया और पुष्ट किया और प्राचीन पशुबलि के स्थान पर मानव में विद्यमान पशु की बलि का उपदेश दिया– पूजा–उपासना के सर्वोच्च रूप और उदार (मुक्ति) के एकमात्र मार्ग के रूप में।[५] रानडे ने बौद्ध धर्म के महत्व को स्वीकार करते हुए बुद्ध के विषय में कहा कि 'उन्हें अपने उच्चतम सौम्यतम विकास में मानवता की परिपूर्ति कहना सर्वथा सत्य है, जिनका कर्मचक्र (ह्वील ऑफ लॉ) अभी भी परमानन्द की प्राप्ति के प्रयत्नों में मानव जाति के अर्द्ध भाग के विचारों व भावनाओं का नियमन करता है।'[६] इसके साथ ही उन्होंने आत्मा और परमेश्वर की अवधारणा से इंकार के लिए बौद्धों की आलोचना भी की। रानडे मानते थे कि ईश्वरवाद के अन्तर्गत ईश्वर की अवधारणा मात्र ऐसे मानव के रूप में नहीं की जाती है जो अपने गुणों सहित किन्तु अवगुणों से रहित, निस्सीम बना दिया गया

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२३
२. पी.जे. जागीरदार–स्टडीज, पृ.५८
३. 'फिलासफी ऑफ इण्डियन थीज्म' रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२९१
४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१२२
५. वही, पृ.२३
६. टी. जगदीशन–विस्डम ऑफ माडर्न रिशी, पृ.२४१

हो। बौद्ध धर्म की त्रुटि यही थी कि उसने मनुष्य को प्राचीन और पौराणिक देवताओं से ऊँचा उठाया और ब्रह्माण्ड से आत्मा या चेतना (स्पिरीट) को भी विस्थापित कर दिया। मूर्तिपूजा के इस रूप का सभी धर्मों ने, विशेष रूप से आर्य धर्म पद्धति ने, विरोध किया है।[१]

रानडे मानते थे कि इस्लाम ने प्रबल एकेश्वरवाद को न केवल बौद्धिक रूप में अपितु व्यावहारिक आचरण के रूप में भी ढालने का प्रयास किया।[२]

जिज्ञासा की गहन भावना से प्रेरित होकर रानडे हिन्दू दर्शन के साथ ही ईसाई, पूर्वी व पश्चिमी सभी दार्शनिक विचारों का अध्ययन–मनन किया था। इस क्षेत्र में भी वे 'पूर्वी व पश्चिमी विचारों के सम्पर्क में ईश्वर का हाथ' और 'दोनों ही प्रणालियों के भविष्य की उच्चतर संभावना' देखते थे।[३] वे पश्चिमी भारत के प्रथम चिन्तक थे जिन्होंने ईसाई धर्म का निष्पक्ष एवं सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन किया और एक नये ईश्वरवाद के विकास में उसके मूल्य को आँका। अपने ईश्वरवाद सम्बन्धी व्याख्यानों में रानडे ने ईसाई धर्म और भारतीय चिन्तन के बीच समानताओं और भिन्नताओं का सुस्पष्ट विवेचन किया।[४]

ईसाइयत एवं हिन्दुत्व में समानता

रानडे के मतानुसार दोनों ही भौतिक उपलब्धियों की अपेक्षा मानव के यथार्थ और उसकी संभावनाओं को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।[५] भागवत धर्म और ईसाइयत में वे अन्य अनेक समानताएं भी देखते थे। उनका कहना था कि दोनों ही धर्मों में परमात्मा को जीवन सागर के रूप में समझा और माना जाता है

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म्स, पृ.२१
२. वही, पृ.२३
३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२–३
४. डॉ. विश्वनाथ नरवणे, पृ.५२
५. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२–३

जिसमें हमारा जीवन, हमारी गति एवं हमारा अस्तित्व है। 'पवित्र त्रिक' का तर्कसंगत प्रतिरूप है–'सत' (एक 'जिसका कोई द्वितीय नहीं है) जो परम अस्तित्व है, लोगस या शाश्वत 'शब्द' है 'चित्त' और तृतीय पुरुष है 'पवित्र आत्मा', 'आनन्द' जो सबमें उल्लास (हर्ष) एवं शांति को उत्प्रेरित करता है। मुक्ति के बाद मानव आत्मा के परमात्मा से या विश्वात्मा से एक (संयुक्त) होने का हिन्दू आदर्श तत्वांतरण के ईसाई रहस्य में मूर्तरूप ग्रहण करता है। दोनों ही प्रणालियां अवतार को मान्य करते हैं–अन्तर एक या अनेक का है। दोनों में बलिदान की विशेष भूमिका है।[१] किन्तु इनमें महत्वपूर्ण अन्तर भी हैं।

रानडे का ईश्वरवाद अनेक कारणों से ईसाइयत का आलोचक था। अन्य सुधारकों के ही समान रानडे ने भी एकेश्वरवाद (यूनीटेरियनिज्म) को स्वीकार किया।[२] किन्तु, क्रिस्टोलाजी में क्राइस्ट को दैवी अवतार, मनुष्य तथा ईश्वर के बीच मध्यस्थ माना गया है जिन्होंने सबके पापों के लिए आत्म बलिदान के द्वारा प्रायश्चित कर मानव जाति की रक्षा की। रानडे के ईश्वरवाद में इसे स्वीकार नहीं किया गया। रानडे का ईश्वरवाद ईसाइयत द्वारा ईश्वर के प्राकट्य (अवतरण) को कुछ ही व्यक्तियों, विशेषतः एक ही व्यक्ति, तक सीमित रखने, चमत्कार तथा रहस्य और, अंतिम सत्ता (प्रमाण) के रूप में, बाइबिल की मान्यता को भी स्वीकार नहीं करता। ईसाई धर्म के मताग्रह को तथा, मूर्तिपूजक एवं दोषपूर्ण कहकर अन्य धर्मों से घृणा को, यह ईश्वरवाद स्वीकार नहीं करता। मानव को पापी नहीं मानता, न मूल एवं हस्तांतरित पाप के सिद्धान्त को ही स्वीकार करता है, न कुछ लोगों को ईश्वर द्वारा सदैव के लिए स्वर्ग या नरक में भेजने के विचार को ही मान्य करता है क्योंकि यह विचार ईश्वर की निष्पक्षता व पूर्णता के साथ असंगत है।[३] बम्बई में 'संगत' सभा में अपने एक व्याख्यान

---

१. १७१. वही, पृ.२२–२३

२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६३

३. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.५७–५९ (दादोबा पाण्डुरंग और स्वेडेन वोर्ग पंथ)

में रानडे ने 'स्वर्ग तथा नर्क' को अलौकिक न मानकर अपने कर्मों के फलस्वरूप अनुभव होने वाली हर्ष एवं विषाद की मनोदशाओं के रूप में विवेचित किया।[१]

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, रानडे ने मूल तथा हस्तांतरित पाप के ईसाई सिद्धान्त को अस्वीकार किया जिसे वे अतिशय निराशावादी मानते थे क्योंकि पाप या बुराई को किसी मूल या आद्य कारण से जोड़ना ईश्वर की प्रकृति से संबंधित विश्वास से असंगत है। इसे चरित्र तथा आत्मा को पुष्ट करने वाला अवश्य कहा जा सकता है, किन्तु इसका पूर्ण संतोषप्रद समाधान संभव नहीं है।[२] अपनी संतुलित (रोबस्ट) प्रकृति के कारण वे (रानडे) मनुष्य की बुद्धिहीनताओं के बजाय उसकी सम्भावित क्षमताओं को अधिक महत्व देते थे। उनका कहना था कि 'मनुष्य के पास क्या है इससे बढ़कर महत्वपूर्ण यह है कि वह क्या है या क्या बन सकता है।' यह मनुष्य के मूल्यांकन में जाति या वर्ग को महत्व नहीं देता।[३]

रानडे पाप के मूल की 'आदम और हव्वा' की कहानी को भी स्वीकार नहीं करते। वे यह अवश्य स्वीकार करते थे कि मनुष्य यदाकदा अहंकारी, स्वार्थी तथा निर्दय होता है। ईश्वरवादी पाप या बुराई के तथ्य को स्वीकार करता है परन्तु इसे वह किसी मूल या आदि कारण से नहीं ज़ोड़ता क्योंकि यह ईश्वर (डाइटी) की प्रकृति से संबंधित विश्वास से असंगत होगा।[४]

रानडे का ईश्वरवाद ईश्वर की सेमेटिक अवधारणा को भी स्वीकार नहीं करता जिस पर ईसाई धर्म आधारित है तथा जिसमें ईश्वर को एक दूरस्थ, कठोर देवता (डाइटी), दण्ड व पुरस्कार प्रदान करने वाला न्यायाधीश तथा ऐसा सम्प्रभु माना जाता है जिसके समक्ष मनुष्य भयभीत होकर उपस्थित होता

---

१. पी.जे. जागीरदार–स्टडीज, पृ.१२२
२. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.५७–५९
३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२
४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६९

है। ऐसे परिप्रेक्ष्य में स्वाभाविक रूप से मध्यस्थ की अवधारणा का विकास होता है। यह सेमेटिक विचार, पिता या माता और भ्राता के रूप में, ईश्वर की हिन्दू अवधारणा को भी स्वीकार नहीं करता जो माता या पिता जैसे प्रेम के साथ न्याय करता है, शासन करता है और दण्डित करता है और पश्चाताप करने वाले पुत्र को अपनाने को सदैव प्रस्तुत रहता है।[१] अंत में, यह ईश्वरवाद तात्विक द्वैधवाद को भी अमान्य करता है जिस पर कट्टरपंथी ईसाई धर्म आधारित है।[२]

यूरोपीय 'सुधारण' से भी रानडे भलीभाँति परिचित थे जो पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ था। इस आन्दोलन के शुद्धीकारक प्रभावों से भी वे अभिज्ञ थे और उन्नीसवीं शताब्दी के भारत पर ईसाइयत के सकारात्मक सुधारक प्रभाव को उन्होंने स्वीकार किया। उनके मतानुसार, इसमें 'संगठन की शक्ति, पापों के प्रति सक्रिय घृणा, निर्लिप्त तटस्थता के बजाय गलत कार्यों के प्रतिरोध, पुरुष तथा स्त्री की गरिमा की सम्यक् चेतना, सक्रिय लोकोपकार और बन्धुत्व की भावना तथा विचार एवं कर्म की स्वतंत्रता' का समावेश था।[३] उनका दावा था कि इसके लाभप्रद या हितकर प्रभाव अंततः भागवत् धर्म (सनातन धर्म) में आत्मसात् कर लिये जायेंगे।[४] दूसरी ओर, स्वच्छन्द धार्मिक जिज्ञासा की सराहना करते हुए भी, हिन्दुओं के धर्म परिवर्तन को वे एक प्राचीन सभ्य राष्ट्र का अपमान मानते थे।[५]

अपने ईश्वरवाद को रानडे जनप्रचलित हिन्दू धर्म तथा कट्टरपंथी ईसाई धर्म दोनों का ही प्रतिकारक और समाज–सुधार का सक्षम आदर्श अथवा मॉडल

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, हिन्दू प्रोटेस्टेण्टीज्म, पृ.२२३
२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२३–२४
३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२३
४. वही, पृ.२३
५. पी.जे. जागीरदार–स्टडीज, पृ.८६

मानते थे। जनप्रचलित हिन्दू धर्म के वे तीक्ष्ण आलोचक थे और उसके तार्किक परीक्षण के पक्ष में थे। अपनी एक परीक्षा के उत्तर में उन्होंने समकालीन ब्राह्मणों को सैद्धांतिक हठधर्मी से युक्त बतलाया और लिखा कि 'जिस धार्मिक जाल ने हम सबको जकड़ रखा है वह ब्राह्मणों के मस्तिष्क की उपज है और किसी की भी समझ में नहीं आता।[१] धर्म के प्रति प्रचलित मिथ्या धारणा को वे देश के अनेक संकटों व आपत्तिजनक परिपाटियों का कारण मानते थे। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि लोक प्रचलित हिन्दू धर्म हृदय तथा मस्तिष्क के शुद्धीकरण की अपेक्षा धर्म विषयक औपचारिकताओं तथा बाह्य तत्वों से अधिक आबद्ध था। उनका मत था कि धार्मिक विधियों, संस्कारों तथा अनुष्ठानों को प्रतीक मात्र माना जाय और यदि उनका प्रतीकात्मक चरित्र जीवन्त रूप से मानस के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जाता तो वे धार्मिक दृष्टि को धूमिल कर देते हैं और हृदय की पवित्रता या निर्मलता तथा सच्ची भक्ति का स्थान ग्रहण कर लेते हैं, जबकि इन्हें भक्ति में सहायक मात्र माना गया था, न कि उसका स्वामी।[२] अपने निबन्ध 'ईश्वरवादी की आस्था' में उन्होंने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया, धार्मिक अनुष्ठानों तथा मूर्तिपूजा आदि की निरर्थकता पर जोर दिया और धार्मिक कर्मकाण्ड, आख्यानों, प्रमाणों, आचार संहिताओं और उपासना विधियों को एकेश्वरवादी सिद्धान्त के विरुद्ध घोषित किया।[३]

बहुदेववाद और मूर्तिपूजा के विकास के संबंध में उनका कहना था कि विज्ञान की शैशवावस्था में, प्राकृतिक कार्यकलापों में मूर्त, शक्ति और प्रयोजन को एक अगोचर अभिकरण और इच्छा का कार्य नहीं वरन् अच्छी व बुरी देवात्माओं, देवताओं, देवदूतों, आत्माओं, भूतों, पौराणिक देवी-देवताओं, जनजातीय एवं स्थानीय मूल वाले देवी-देवताओं, की क्रीड़ा के

---

१. जागीरदार-महादेव गोविन्द रानडे, १९८१, पृ.६४ में उद्धृत

२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२०३

३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२५९-२७८

रूप में देखा जाता था जिनको मानव पर प्रकृति से अधिक एवं व्यापकतर शक्तियाँ एवं सूक्ष्मतर प्रभाव प्राप्त था। विचारों के इस चरण ने स्वाभाविक रूप से बहुदेववाद और मूर्तिपूजा को जन्म दिया। विज्ञान द्वारा उद्घाटित प्राकृतिक विधानों के सार्वभौम सामंजस्य को न समझने वाली जातियों व देशों में इसका प्रचलन हुआ। ---आगे चलकर, विज्ञान ने मनुष्य को इन अभिकरणों को अच्छे व बुरे देवदूतों, दैत्यों, अहिरमन और अहरमज्द में वर्गीकृत करना सिखाया। इस प्रकार, अच्छाई और बुराई के सिद्धान्तों की पताकाओं के नीचे, छोटे व बड़े देवताओं का सोपानक्रम विकसित हुआ। इसका सर्वश्रेष्ठ रूप हिन्दुओं व पारसियों के प्रारम्भिक धर्म में दिखता है जिसका प्रभाव मुस्लिम और ईसाई धर्म पद्धतियों पर भी पड़ा।

मूर्ति पूजा के संबंध में रानडे का विश्वास था कि मूर्तिपूजा अधिकांशतः इस देश में प्रचलित बहुदेववाद का परिणाम है जो इस देश के निवासियों को, अपनी उच्चतर प्रज्ञा की शिक्षा के विपरीत, यह सोचने को प्रेरित करता है कि एक 'सर्वोपरि इच्छा' प्रकृति के समस्त कार्यकलापों का नियमन नहीं करती बल्कि अनेक देवी-देवता, अच्छी व बुरी देवात्माएं, सैकड़ों प्रकार से प्रकृति के कार्यकलापों और मानव के हित को प्रभावित करती हैं और इनमें से प्रत्येक अधीनस्थ शक्तियों को उसके दिन-विशेष और पद्धति विशेष से तुष्ट करना आवश्यक है। मानस की यही अन्यमनस्कता वास्तविक बुराई है।

वैदिक काल में कोई मूर्ति पूजा व चित्रपूजा नहीं थी। इसका प्रचलन अवतारवाद के स्वीकार किये जाने पर आरम्भ हुआ। जैनियों व बौद्धों द्वारा अपने संतों की पूजा ने इसे प्रेरित किया। अन्त में, यह आदिवासी जनजातियों की जड़पूजा से जुड़ गयी जिन्हें आर्यों ने अपने वृत्त में शामिल कर लिया था और उनके देवताओं को आर्य देवताओं के अवतारों में रूपान्तरित कर दिया। रानडे का मत था कि मूर्तिपूजा से बचना चाहिए। मूर्तिपूजा के प्रति उनका विरोध यह था कि मूर्ति पर केन्द्रित होकर मूर्तिपूजक प्रायः मूर्ति से

परे परमेश्वर तक अपने मानस को ऊँचा उठाने में विफल हो जाता है।[१] बुद्धि, विवेक एवं अंतश्चेतना पर इसका अनिष्टकर प्रभाव पड़ता है और उन्नायक धर्म का नाश हो जाता है। जड़पूजा व बहुदेववाद की स्थिति से मानव मानस के आगे बढ़ जाने पर, तथा ब्रह्माण्ड पर शासन करने वाले एक परमात्मा की अवधारणा विकसित हो जाने पर, मूर्तिपूजा बुद्धिहीनता ही है। रानडे का विचार था कि मूर्तिपूजा ईश्वर संबंधी हमारी अवधारणाओं का मानवीकरण, बल्कि पाशवीकरण करती है। शीघ्र ही इसके चतुर्दिक एकत्रित होने वाले आख्यान (मिथक), जो प्रायः मानव समाज में व्याप्त निकृष्ट स्वेच्छाचार का प्रतिनिधित्व करते हैं, अंतश्चेतना को कुण्ठित और बुद्धि को संज्ञाहीन कर, उन्नतकारी विश्वास (धर्म) का पूर्ण विनाश करते हैं। वे असहिष्णुता के स्रोत, और सम्प्रदायों, पंथों, मतों के तथा साम्प्रदायिक विभाजनों एवं संघर्षों के मूल के रूप में, बहुदेववाद का तिरस्कार करते थे।

उनका कहना था कि मूर्तियों का तथा उनमें ईश्वर के स्थित होने पर विश्वास का सर्वश्रेष्ठ महत्व नकारात्मक है, इस दृष्टि से कि यह मनुष्य की धार्मिक चेतना को और अधिक नीचे नहीं गिरने देता।

वृद्धावस्था की परिपक्व बुद्धि ने मूर्तिपूजा संबंधी उनकी पूर्व धारणा को पुष्ट किया–कम से कम जहाँ तक दक्खिन के संतों द्वारा प्रयुक्त मूर्तिपूजा का संबंध है, उन्होंने कहा कि–'जब यह कहा जाता है कि ये मेधावी व्यक्ति, आपत्तिजनक अर्थ में, मूर्तिपूजक थे तो यह इस विषय पर उनके विचारों व मंतव्यों का गलत चित्रण होता है। वे काठ व पत्थरों की पूजा नहीं करते थे।' संत व महात्मा जन सामान्य में प्रचलित इन हीन अवधारणाओं से ऊपर

---

१. मूर्तिपूजा में विश्वास न होते हुए भी न तो उन्होंने लोगों को न इससे मना किया और न स्वयं मंदिरों में जाना छोड़ा। इसका स्पष्टीकरण गोखले ने इस रूप में किया है कि रानडे के समक्ष महत्व व्याख्यान का था न कि स्थान का। (जागीरदार, स्टडीज, पृ.)

थे। उनके द्वारा मूर्तिपूजा का विरोध या तिरस्कार किया गया क्योंकि मूर्ति सर्वोच्च ईश्वर का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी।'[१]

रानडे मानते थे कि प्रचलित धर्म में प्रश्न मूर्तिपूजा के समर्थन या विरोध का नहीं था। मतभेद पूजा के विषय या पात्र को लेकर नहीं, पद्धति को लेकर था। इसका मूल गहरा था और इस पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता थी।

उनका विश्वास था कि जनसामान्य में प्रचलित हिन्दू धर्म में अतिशय कल्पचार (रिचुअलिज्म) व्याप्त था और इससे भी उपरोक्त परिणाम निकलते हैं। इसके अलावा इससे जुड़े कुछ सामाजिक अनुष्ठान या कर्मकाण्ड अतिशय अपव्ययपूर्ण हैं।

भारतीय इतिहास में प्रायः दृष्टिगोचर होने वाले अंत:विरोध पर तथा हिन्दू धर्म की एकेश्वरवादी भावना तथा बहुदेववादी व्यवहार के अंत:विरोध पर भी उनका ध्यान गया। इसे वे अनबूझ पहली मानते थे। इसे हल करने का प्रयास उन्होंने अवश्य किया किन्तु सफल न हो सके और उन्हें कहना पड़ा कि–'मेरे पास इसका कोई हल नहीं है। मैं बहुत दिनों से इसके बारे में सोचता रहा हूँ, परन्तु इसका कोई तर्कसम्मत और युक्तिसंगत कारण (व समाधान) नहीं पा सका हूँ।[२]

रानडे मानते थे कि अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक स्तर पर, हम यह मान सकते हैं कि पुरोहित पद,[३] देवालयों–मंदिरों, पवित्र दिवसों, कर्मकाण्ड या धर्मविधि (कल्पांचार) तथा अन्य रूपों में धर्म का सांस्थायिक निरूपण वांछनीय एवं महत्वपूर्ण है[४] यद्यपि हमें उनके व्यावहारिक संकट के प्रति भी सतर्क रहना चाहिए।

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२२१-२२
२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६९
३. वही, पृ.२७५
४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७५

वे मानते थे व्यक्ति के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं के अवसर पर धार्मिक अनुष्ठान होने चाहिए क्योंकि ये व्यक्ति के अस्तित्व की सार्थक घटनाएँ हैं।[१] किन्तु कर्मकाण्ड अथवा कल्पाचार के आधिक्य को वे अहितकर मानते थे और इससे संलग्न होने के भी विरुद्ध थे। यद्यपि रानडे मानते थे कि प्रार्थना समाज में श्राद्ध की प्रथा का कोई स्थान नहीं था तथापि देश के विभिन्न भागों में हजारों-लाखों व्यक्ति पूर्वजों के ऋण के प्रति कृतज्ञता स्वरूप संतानोचित प्रेम एवं कर्त्तव्य की जिस चेतना या भावना से इस संदर्भ में अनुप्राणित होते थे, उसमें निहित महत्व व सत्य को भी वे उपेक्षणीय नहीं मानते थे।[२] अस्तु श्राद्ध कर्म को भी वे आत्मा का उत्थान करने वाला मानते थे।[३]

रानडे का मत था कि, तीर्थस्थानों की प्राकृतिक सुषमा और उनका ऐतिहासिक महत्व धर्म या भक्ति की भावना को जगाने में सहायक हो सकता है। किन्तु, तीर्थ के महत्व को स्वीकार करते हुए भी, जड़-पूजा से बचने की दृष्टि से वे इसे समुचित नियंत्रण के अधीन रखने के पक्ष में थे।[४] श्रेष्ठतर पवित्र आत्माओं के प्रभाव से भी रानडे ने इन्कार नहीं किया। कतिपय धर्मों में गुरु, मध्यस्थ एवं पुरोहित की आवश्यकता पर दिये जाने वाले अत्यधिक जोर को देखते हुए भी रानडे मानते थे कि इस धारणा का प्रबल विरोध नहीं किया जा सकता कि कोई व्यक्ति अपने निजी या अकेले प्रयासों से ही अपनी रक्षा कर सकता है।[५] गुरु, शिक्षक, मध्यस्थ की उपयोगिता की एक सीमा है। कोई भी व्यक्ति या समूह धर्म के सन्दर्भ में उल्लंघनीयता का दावा नहीं

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७५-२७६

२. वही, पृ.११५-१६, १३६

३. वही, पृ.२७६

४. वही, पृ.२७७

५. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७७

कर सकता। इन दावों का प्रतिरोध किया जाना आवश्यक है, क्योंकि ये मिथ्या हैं और, एक बार स्वीकार कर लिये जाने पर, वे मनुष्य की बुद्धि को क्षीण करते हैं उन्हें दासता की स्थिति में डाल देते हैं जो, चेतना का हनन करने के कारण, और अधिक अनिष्टकर है।[१]

सत्ता अथवा प्रामाणिकता का विरोध

उन्होंने सत्ता या प्रामाणिकता पर बचकानी निर्भरता से दूर रहने की आवश्यकता पर भी जोर दिया। इनका कहना था कि हममें से बहुत से व्यक्ति किसी बात को सही या गलत, पुण्यमय या पापमय केवल इसलिए मानते हैं कि अतीत में किसी व्यक्ति ने ऐसा कहा था; उसे कर्त्तव्य एवं दायित्व मानते हैं, इसलिए नहीं कि हम ऐसा अनुभव करते हैं बल्कि इसलिए कि किसी बुद्धिमान माने जाने वाले व्यक्ति ने इसका निरूपण किया। ---जब हम असहाय रूप से किसी अन्य की इच्छा पर पूर्णतया आश्रित हो जाते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं कि हम जीवन के सभी पक्षों में बच्चों के ही समान असहाय बन जाते हैं। धर्म ग्रन्थों के सन्दर्भ में भी रानडे का मत था कि आस्था मनुष्य का निजी विषय है और धर्मग्रन्थ अन्तिम या सर्वोपरि एवं शाश्वत धार्मिक प्रज्ञा के भण्डार नहीं हैं। उनका कहना था कि सत्ता या प्रामाण्य (ऑथारिटी) का धर्म में उससे अधिक महत्व नहीं है जितना सामाजिक तथा राजनीतिक विज्ञानों में है। इसका सम्मान होना चाहिए किन्तु इसे, आस्था के सन्दर्भ में, विवेक के प्रयोग को निषिद्ध करने वाला नहीं बनने देना चाहिए।[२] तथापि रानडे ने, सम्पूर्ण सत्ता (प्रामाणिकता) के विद्रोहात्मक उन्मूलन के बजाय, अंतर में स्थित ईश्वर की वाणी के प्रति उत्तरदायी स्वातंत्र्य का विचार प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा कि 'समस्त मानव सत्ता (प्रामाणिकता) का समादर करो, समस्त संतों तथा ईश्वरीय ज्ञान का सम्मान करो, किन्तु इस श्रद्धा और समादर

१. वही, पृ.२७८

२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७८

या सम्मान को कदापि अंतश्चेतना के आदेश, हमारे अंतर में स्थित दैवी आदेश के मार्ग में मत आने दो।'

रानडे ने इस आत्मसम्मान को अथवा हमारे अंतर में स्थित ईश्वर के प्रति सम्मान को सर्वोपरि महत्व प्रदान किया। इसी कारण उनके लेखों में हमें बार-बार इस तथ्य का निरूपण या प्रतिपादन दिखाई देता है कि समाज सुधार के पक्ष में विजय केवल सामाजिक संस्थाओं के रूपान्तरण से नहीं बल्कि व्यक्तियों के हृदय परिवर्तन से अर्जित होगी। उनका आग्रह आभ्यंतरिक तत्वों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक था। बाल विवाह तथा वैधव्य के सन्दर्भ में, मद्य निषेध एवं शुद्धता के सन्दर्भ में, जातियों के बीच अन्तर विवाह, निम्न जातियों के उत्थान, धर्म परिवर्तकों के पुनः ग्रहण किये जाने और धर्मदायों व दातव्य संस्थाओं के नियमन के सन्दर्भ में सुधार केवल वहीं तक सुधार है जहाँ तक वे रूढ़ विचारों के प्रभाव को नियंत्रित करते हैं और नवीन प्रवृत्तियों के विकास में सहायता पहुँचाते हैं।

रानडे पश्चाताप में भी विश्वास करते थे।[१] महान् मनीषियों, संतों के लिपिबद्ध अनुभवों को मनुष्य के लिए रानडे बहुमूल्य मार्गदर्शक मानते थे। वे मानते थे कि ऐसे ग्रन्थ संतों की कीर्ति के निर्माता होते हैं यह संग्रहणीय कोष है---समस्त मूल्यों से परे जीवन में एक आत्मसंतोष या सांत्वना के रूप में। किन्तु इनका प्रयोग भी मानव के कार्यों में विवेक के प्रवाह को बाधित करने के लिए नहीं किया जा सकता। रानडे का मत था कि 'सब कालों और देशों में देवदूत की दृष्टि, कवि की प्रेरणा, महान धर्मोपदेशक की वाक्पटुता, दार्शनिक की प्रज्ञा अथवा बलिदानी का आत्मोत्सर्ग लेकर जो वरद् आत्माएँ जन्म लेती हैं उनकी दृष्टि, प्रेरणा, उनकी वाक्पटुता, उनकी प्रज्ञा और उनका शूरत्व वास्तव में दैवी होते हैं, ईश्वर का विशेष प्रसाद हुआ करते हैं और ये वरद् विभूतियाँ जो कुछ देखती, अनुभव करतीं और उपदेश देती हैं वह

---

१. वही, पृ.२६९-७०

सब एक प्रकार का उच्चतर और अधिक सच्चा दैवी प्रकाश, ईश्वरीय ज्ञान (इलहाम) है और दैवी ज्ञान का यही एक स्वीकार्य अर्थ है। पुस्तकों में जिस ईश्वरीय ज्ञान का उल्लेख मिलता है वह चिन्तन मात्र है और क्योंकि वह स्वभाव से ही अस्थायी तथा स्थानीय होता है, इसलिए उनका महत्व भी सापेक्ष तथा अस्थायी हुआ करता है।

ईश्वरवाद के इन तत्वों को रानडे मान्य करते थे। ईश्वरवाद तथा प्रोटेस्टेण्टवाद के अन्तर्भूत सिद्धान्तों को (जिन्हें वे सत्य धर्म मानते थे) समझकर रानडे ने हिन्दू धर्म एवं दर्शन में उनकी खोज की और इनसे असंगत तत्वों को अस्वीकार किया। अपने सामाजिक प्रतिरूपों सहित धार्मिक उत्थान तथा प्रगति की निरंतरता रानडे का सर्वाधिक महत्वपूर्ण संदेश था। प्रार्थना समाज, राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन तथा प्रान्तीय सम्मेलन और अन्य संस्थाओं व सभा-संगठनों के माध्यम से रानडे ने इनका प्रवर्तन किया। फलतः इन विचारों का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ और भारतीयों के धार्मिक विश्वासों, प्रथाओं तथा दृष्टिकोण में परिवर्तन हुए।

रानडे धर्म-सुधार की आवश्यकता भी अनुभव करते थे, क्योंकि भारत में सामाजिक प्रथाओं का धर्म से घनिष्ट संबंध रहा है। उनकी धारणा थी कि अनेक सामाजिक तथा आर्थिक कष्टों व व्याधियों का कारण हिन्दुओं के कतिपय धार्मिक विश्वास एवं रीति-रिवाज हैं। हिन्दू धर्म पर अनवरत प्रहार कर भारतीयों को अपनी ओर आकृष्ट करने वाले ईसाई मिशनरियों के प्रतिकार की दृष्टि से भी यह आवश्यक था। इसके लिए, धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के साथ ही, हिन्दू धर्म को बौद्धिक आधार प्रदान कर उसकी जड़ता को समाप्त करना भी आवश्यक था। इसी कारण रानडे ने समाज-सुधार के साथ ही धर्म-सुधार की ओर भी विशेष ध्यान दिया। धर्म-सुधार के ध्येय से वे प्रार्थना समाज में सम्मिलित हुए जिसका उद्देश्य हिन्दू धर्म को युक्तिसंगत बनाया था। (प्रार्थना समाज की स्थापना की स्वीकृति भी रानडे ने दी थी) उन्होंने १८८८ ई. में धर्मसुधार सम्मेलन की अखिल भारतीय ईश्वरवादी सम्मेलन की स्थापनी की।

रानडे की समाज-सुधार-संबंधी योजना में सही या सम्यक् प्रकार के धर्मसुधार का प्रधान स्थान था। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि 'पूर्ववर्त्ती धार्मिक पुनरुत्थान जनता का कार्य था, जन सामान्य का कार्य था, न कि उच्च वर्गों का। इसके शीर्ष पर संत थे, उपदेशक (पैगम्बर) थे, कवि और दार्शनिक थे जिनका उद्भव ब्राह्मणों से कहीं अधिक समाज की निम्नतम श्रेणियों से हुआ था-दर्जी, बढ़ई, कुम्हार, माली, नाई और यहाँ तक कि महार भी।[१]

रानडे का विश्वास था कि यदि हमारे धार्मिक विश्वासों तथा प्रथाओं में ऐसा सुधार लाया जा सके जो हमारे सामाजिक हित के उद्देश्यों के अनुरूप हों तो इससे, जनता के श्रेष्ठतर आध्यात्मिक कल्याण में ही नहीं, अपितु भौतिक कल्याण में भी सहायता मिलेगी। भारतीय इतिहास के अध्ययन पर आधारित उनकी योजना में धार्मिक सुधार, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की योजना का अभिन्न अंग था।[२] हिन्दू सुधारकों से संबंधित उनके लेखों तथा भाषणों से प्रकट होता है कि उनकी सम्मति में भारत में धार्मिक सुधारों के लिए उत्प्रेरणा अन्दर से भी उतनी ही प्राप्त हुई जितनी कि बाहर से। उनका दावा था कि-'धर्म तथा धार्मिक सुधारों के सन्दर्भ में हमें विदेशी मार्ग-दर्शकों की अपेक्षा स्वदेशी मार्गदर्शकों को वरीयता देनी चाहिए क्योंकि विदेशी हमारे अपने नहीं हैं।[३]

रानडे का हिन्दू प्रोटेस्टेण्टवाद

न्यायाधीश के रूप में बम्बई आने पर उन्होंने हिन्दू धर्म पर दो महत्वपूर्ण वक्तव्य दिये-'हिन्दुओं का प्रोटेस्टेण्टवाद' (१८९५) और 'भारतीय ईश्वरवाद का दर्शन'।[४] धार्मिक सुधारकों के लिए उन्होंने एक सुगम शब्द-हिन्दू प्रोटेस्टेण्ट का प्रयोग किया। रानडे का इस शब्द से अभिप्राय-'ईश्वर के प्रत्यक्ष बोध पर

---

१. राइज ऑफ द मराठा पावर, पृ.६४-६५

२. डी.जी. कर्वे-रानडे, द प्रॉफिट आफ द लिबरेटेड इण्डिया, पृ.२०६-७

३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६५

४. पी.जे. जागीरदार-महादेव गोविन्द रानडे, १९८१, पृ.१३८

आधारित, पुरातनपंथिता के विरुद्ध निरन्तर उदार विरोध प्रदर्शन से था।' इसे वे भागवत धर्म भी कहते थे।[१] अपने इस धर्म के लिए रानडे प्रेरणास्पद ऐतिहासिक अतीत का दावा करते थे और उसका शुभारम्भ भारत के प्राचीन संतों से मानते थे। राजाराम मोहनराय पर अपने प्रवचन में रानडे ने कहा कि 'वे (राय) ब्रह्म चर्च के जनकों में से एक थे। उन्होंने कहा कि हम, ब्रह्मसमाज के सदस्य, एक दीर्घ पूर्वज–परम्परा का दावा कर सकते हैं, उतनी ही प्राचीन जितनी देश में विद्यमान कोई पंथ कर सकता है। ब्रह्मसमाज या ईश्वरवादी आन्दोलन का जन्म १८२८ में नहीं हुआ। हम एक प्राचीन जाति के प्रतिनिधि हैं, जितने प्राचीन भागवत गीता और भागवत् पुराण है, बल्कि इससे भी अधिक प्राचीन, जिससे प्राचीन नारद, प्रह्लाद और बासुदेव तथा जनक के दरबार में उपस्थित होने वाले नौ ऋषि हैं। उस समय से आज तक साधु–संतों की निरंतरता रही है।'

ब्रह्म समाज तथा प्रार्थना समाज आदि को वे विश्वव्यापी ईश्वरवादी आन्दोलन का अंग मानते थे। बम्बई प्रार्थना समाज में 'हिन्दू प्रोटेस्टेण्टवाद' पर अपने व्याख्यान में उन्होंने कहा कि–'यह आन्दोलन थोड़े से अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों द्वारा आरम्भ नहीं किया गया है। यह आन्दोलन आधुनिक भारत से पुराना है और यह नगरों में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त जनों तक ही सीमित नहीं है। इसकी जड़ें गहराई से हमारे इतिहास में जमी हैं और हमें इसका अध्ययन करना चाहिए यदि हमें जानना हो कि हम वास्तव में क्या है और हमें किधर जाना है।[२]

रानडे का कहना था कि पिछले पाँच सौ वर्षों में पचास महत्वपूर्ण संतों

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१९८–२०६. चन्दावरकर, 'डिस्कसन ऑन हिन्दू प्रोटेस्टेण्टीज्म', वही, पृ.३८–४६ मनोहर लाल जुत्शीज सिरीज 'हिन्दू प्रोटेस्टेण्टीजम इन द हिन्दुस्तान रिव्यू' १९०६–७, ४ मार्च १९०७

२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२०५

(चंगदेव, ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, रामदास, तुकाराम, दामा जी, भानुदास, कर्मदास, केशव स्वामी, जयराम स्वामी, नरसिंह, सरस्वती, रंगनाथ स्वामी, चोखा मेला, नरहरि, गणेशनाथ आदि) ने एक व्यापक धार्मिक आन्दोलन चलाकर, पश्चिमी भारत में व देश में व्यापक विकृतियों को दूर करने का प्रयत्न किया।[१] भारत के १६वीं शताब्दी के धर्म सुधार आन्दोलन के नेताओं यथा एकनाथ, कबीरदास, रामदास, तुकाराम, नागनाथ, नानक आदि (जो विभिन्न जातियों के सदस्य थे) के प्रभाव को सभी जातियों ने अनुभव किया था। रानडे ने, भारत के मध्ययुगीन कवियों तथा यूरोप के प्रोटेस्टेण्ट सुधारकों के बीच सादृश्य प्रदर्शित करते हुए, अपने सुधार प्रयासों को 'हिन्दू प्रोटेस्टेण्टवाद' का नाम दिया। इन दोनों ऐतिहासिक पद्धतियों में उन्होंने जिस प्रेममय ईश्वर के दर्शन किये वह उस ब्राह्मणवाद का समर्थन नहीं कर सकता था जिसमें संस्कृत की प्रधानता, धर्मविधियों, संस्कारों, घृणित तांत्रिक अनुष्ठानों, योग के अतिसंयम और शक्तियों, जातिगत नियमों व भेदभावों, पशु व नरबलि, क्रूर देवी–देवताओं की उपासना, शाक्त अनुष्ठान तथा बहुदेववाद का समावेश हो।[२]

मध्ययुगीन भारतीय सुधार आन्दोलनों संबंध में उन्होंने कहा कि इन्हों (मध्ययुगीन भारतीय सुधार आन्दोलनों) ने कट्टरपंथिता तथा पुरोहितों के अनुदारवाद या रूढ़िवाद के विरुद्ध संघर्ष किया। वे बड़े अंशों में, संस्कृत विद्या के एकाधिकार का खण्डन करने, चमत्कारों की यौगिक प्रणाली के मोह को भंग करने और जातिगत अवरोधों को क्षीण करने में सफल हुए। नाई, मोची और कसाई, स्त्रियों तथा मुसलमानों का उन सुधारकों ने हार्दिक स्वागत किया और इनमें से कुछ की गणना संतों में भी की गयी।[३]

---

१. द राइज ऑफ मराठा पावर, ८वां अध्याय; रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म,
२. द राइज ऑफ मराठा पावर, ८वां अध्याय,
३. द विस्डम ऑफ ए माडर्न रिषी, टी.एन. जगदीशन, (सं.)

देशी सुधार आन्दोलनों के परिणामों का सारांश प्रस्तुत करते हुए रानडे ने लिखा कि इसने हमें देश की जनभाषाओं में उल्लेखनीय महत्व वाला साहित्य प्रदान किया। इसने जातिगत पार्थक्य या एकांतिकता की पुरानी भावना की कठोरता में सुधार किया। इसने शूद्रों में आध्यात्मिक शक्ति तथा लगभग ब्राह्मणों के समान, सामाजिक महत्ता तक ऊँचा उठाया; पारिवारिक संबंधों को पवित्रता प्रदान की और स्त्रियों की प्रस्थिति को उन्नत बनाया; राष्ट्र को अधिक उदार अथवा मानवीय बनाया, साथ ही पारस्परिक सहिष्णुता के द्वारा एक सूत्र में आबद्ध होने के लिए अधिक शुद्ध बनाया; प्रेम तथा आस्था के माध्यम से उपासना को उच्चतम भव्यता के समक्ष, धार्मिक संस्कारों (राइट्स) तथा अनुष्ठानों, तीर्थयात्राओं और व्रत–उपवासों एवं विद्वत्ता तथा चिन्तन के महत्व को कम किया; मुसलमानों के साथ मैत्री अथवा सौहार्द्र की योजना सुझाई तथा अंशतः उसे कार्यान्वित भी किया; बहुदेववाद की अतिशयता को बाधित किया; सभी प्रकार से राष्ट्र को सामान्यतया, विचार तथा कर्म दोनों की क्षमता के उच्च स्तर तक ऊँचे उठाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की और उसे विदेशी प्रभुता के स्थान पर संयुक्त देशी सत्ता की पुनर्स्थापना के नेतृत्व के लिए तैयार किया।[१] फलतः देश में मानवतावाद के अनुकूल वातावरण का जन्म हुआ और धार्मिक सहिष्णुता की प्रेरणा मिली। प्रचलित धार्मिक बाह्य आडम्बरों व जटिल कर्मकाण्डी पद्धतियों पर प्रहार हुआ, तीर्थाटन एवं व्रत आदि को महत्वहीन सिद्ध करने का प्रयास हुआ, अध्ययन एवं चिन्तन संबंधी वाचिक ज्ञान की तुलना में प्रेम एवं भक्ति द्वारा ईश्वरोपासना को ही ईश्वर प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग घोषित किया गया। एकेश्वरवाद का प्रचार और बहुदेववाद का खण्डन हुआ। (इसके साथ ही एक स्वदेशी राज्य की स्थापना की पृष्ठभूमि भी तैयार हुई)।[२]

---

१. द विस्डम ऑफ माडर्न ऋषि : पृ.१०७, रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२०१–०३, २२७–२८; राइज ऑफ द मराठा पावर, पृ.१४३।

२. राइज ऑफ द मराठा पावर, पृ.१४३

मध्ययुगीन मराठा संतों के प्रभाव के संबंध में रानडे की सम्मति थी कि, कम से कम महाराष्ट्र में, सामाजिक रीति-रिवाज, यदाकदा धार्मिक उपदेशकों अथवा प्रभावी अनुष्ठानों के फलस्वरूप रूपांतरित प्रवृत्तियों के द्वारा, स्थायी रूप से परिवर्तित सामान्य जीवन का नियमन कर रहे थे।[१] अतएव रानडे ने समग्र जनता के हृदय को आप्लावित करने वाले मध्ययुगीन संत सुधारकों के उदाहरण का अनुसरण किया। महाराष्ट्र के उक्त आन्दोलन से प्रेरणा ग्रहण कर रानडे ने भारतवासियों को धर्म के आधार पर देश के उत्थान का संदेश दिया। अपने देशवासियों को संत-कवियों, विशेष रूप से तुकाराम का संदेश देकर रानडे ने एक ओर धर्मोपासना का आडम्बरहीन रूप प्रस्तुत किया; दूसरी ओर विभिन्न क्षेत्रों में देश के उत्थान की प्रेरणा प्रदान की। तेरहवीं शताब्दी में ज्ञानदेव से प्रारम्भ होकर १८वीं शताब्दी के अंत तक संतों-महात्माओं के कार्यों का रानडे द्वारा किया गया मूल्यांकन[२] इंगित करता है कि रानडे हिन्दू समाज को विश्वास दिलाना चाहते थे कि वे केवल 'सार्वभौम रूप से समादृत' मराठा संतों के कार्य को ही अग्रसर कर रहे थे।[३] संतों-महात्माओं का पक्षपोषण करने की रानडे की व्यग्रता से प्रकट होता है कि अपने आन्दोलन को अतीत से जोड़ने का उनका आग्रह कितना प्रबल था। उनकी सम्मति में समाज के प्रत्येक प्रगतिशील आन्दोलन में अतीत का श्रेयस वर्तमान के श्रेयस से अवियोज्य रूप से जुड़ा हुआ है।

रानडे ने आधुनिक सुधार आन्दोलन का भारत के मध्ययुगीन सुधार आन्दोलन की परम्परा से यथासंभव तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास किया जिससे वह समाज आन्दोलन (ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज) की अपेक्षा अधिक

---

१. वही

२. मराठा संतों की उपलब्धियों का आकलन-'हिन्दू प्रोस्टेण्टीज्म'-रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२२७

३. वही, भूमिका, पृ.११

राष्ट्रीय प्रतीत हो। उनका विशेष आग्रह था कि आधुनिक 'विरोधवाद' (प्रोटेस्टेण्टीज्म) को मध्ययुगीन 'विरोधवाद' की ही कड़ी होना चाहिए। यह विरोधात्मक प्रणाली अत्यंत प्राचीन थी–कम से कम बौद्ध धर्म के उद्भव जितनी। इस परम्परा के सम्यक् बोध के लिए इतिहास का अध्ययन आवश्यक था क्योंकि तभी सुधारकों को अपनी स्थिति एवं भावी दिशा का ज्ञान होता।[१]

उपरोक्त विचारों से स्पष्ट है कि रानडे निरन्तरता की परम्परा को भंग नहीं करना चाहते थे। वे नवाचार नहीं चाहते थे अपितु वे अपने देशवासियों से संतों–महात्माओं के कार्यों को अग्रसर करने मात्र के लिए कह रहे थे।[२] इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त वे भारत में एक अखिल भारतीय संगठन की स्थापना के आकांक्षी थे।

१९वीं शताब्दी के सुधार आन्दोलन के संबंध में रानडे की सम्मति

रानडे का विश्वास था कि १९वीं शताब्दी का सुधार आन्दोलन सुधार की महान् हिन्दू परम्परा के ही अनुरूप था। सुधारवादी प्राचीन सिद्धांतों का नवनिर्वचन पुनर्विवेचन करने के लिए ही उनका अन्वेषण करते थे। प्रार्थना समाज को भी वे इसी परम्परा को अग्रसर करनेवाला मानते थे।[३] समाज आन्दोलन, हिन्दू धर्म के अन्दर प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलनों की एक लम्बी शृंखला द्वारा (आधुनिक काल के पूर्व ऐसा अंतिम आन्दोलन था–भक्ति आन्दोलन) धार्मिक विचारों में उत्पन्न प्रगति के दो हजार वर्षों का 'धूमिल प्रतिबिम्बन' तथा उसकी लघु प्रशाखा मात्र था।[४] उनकी दृष्टि में, राममोहन राय क्रांतिकारी नहीं थे, बल्कि हिन्दू धर्म एवं समाज में सक्रिय ऐतिहासिक शक्तियों के एक अर्वाचीन या नवीन प्रतिपादक थे। रानडे ने कहा कि 'ब्रह्म समाज के सदस्य,

---

१. विस्डम ऑफ ए माडर्न ऋषि, पृ.२०५
२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.११–१२
३. डी.एस. शर्मा–हिन्दूइज्म थ्रू द एजेज, पृ.८३
४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१९९

देश में विद्यमान किसी भी धर्म या पंथ के समान, दीर्घ वंश परम्परा का दावा कर सकते हैं। किन्तु इन समाजों की विप्लवी प्रकृति तथा सामाजिक एकांतिकता या पार्थक्य को रानडे स्वीकार न कर सके।[१] इस बात को रानडे स्वीकार करते थे कि ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज ने अच्छा कार्य किया था किन्तु उनकी सम्मति में इनका ईश्वरवाद संकीर्ण आधार वाला था। ब्रह्म समाज के नेताओं ने घोषित किया कि ईश्वर का पितृत्व तथा मनुष्य का बन्धुत्व ही किसी ईश्वरवाद को मानव धर्म का रूप देने के लिए महत्वपूर्ण थे।[२] रानडे का मत था कि प्रार्थना समाज के अनुयायियों को केवल ईश्वर के पितृत्व और मानव के भ्रातृत्व में ही विश्वास तक सीमित नहीं रहना चाहिए। 'ईश्वर के प्रति प्रेम और मानव के प्रति प्रेम', यद्यपि व्यवहारतः अपृथक्करणीय हैं तथापि वे हमारी प्रकृति के दो भिन्न किन्तु सहायक तत्वों से उद्भूत होते हैं। क्योंकि मानव प्रकृति में धार्मिक तत्व अधिक सशक्त एवं प्रगाढ़ रूप में अन्तर्निहित है, अतएव नैतिक प्रारूप अथवा आदर्श के निर्माण पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ता है और व्यवहारिक रूप में यह नैतिकता के प्रयोग को सुनिश्चित बनाता है।[३] ब्रह्मसमाज आदि ने उन धार्मिक प्रवृत्तियों को समझने का कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया है जो सर्वदा से जनता की आस्था को भ्रमित करते रहे हैं जिनके कारण उसे प्राकट्य अथवा दैवी ज्ञान की शरण लेनी पड़ी है। इस आन्दोलन की दृष्टि में धर्म का चरित्र भावनात्मक मात्र है, कठिनाई बोध (समझ) की नहीं, बल्कि आस्था या विश्वास की है। धार्मिक सिद्धांतों की ब्रह्मसमाजी नेताओं की समझ अस्थायी या अस्थिर और सीमित है।[४] ब्रह्मसमाज के नेता, समस्त युगों के सर्वश्रेष्ठ मानस वाले व्यक्तियों की, सत्यनिष्ठ अध्ययन-मनन-चिन्तन

---

१. सी.एच. हेमशठ, पृ.१८०

२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, एम.बी. कोलास्कर (एडी.), पृ.२५१

३. वही, पृ.२६१

४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२५१-५२

द्वारा, शताब्दियों में विकसित धार्मिक अभिमतों के विशाल पुंज की अत्यन्त सीमित एवं अनिश्चित या संदिग्ध समझ से ग्रस्त प्रतीत होते हैं।[१] रानडे का मत था कि ब्रह्मसमाज के 'ट्रस्ट डीड' में जो आध्यात्मिकता, गहन धर्मपरायणता और सार्वभौम सहिष्णुता मूर्त हुई वह सौन्दर्य एवं पूर्णता के ऐसे आदर्श का प्रतिनिधित्व करती है जिसका बोध उनके उत्तराधिकारियों ने नहीं किया।[२] अनेकानेक विच्छेदों के फलस्वरूप अपने समक्ष उच्च आदर्श स्थापित करने वाले ब्रह्मसमाजी, एक पीढ़ी के अन्दर, अनेक दलों में विभक्त हो गये और, इस प्रकार, अनिच्छा से ही सही, उन्होंने उस जातिप्रथा को सबल बनाया जिसकी वे निन्दा करते थे।[३] रानडे का आरोप था कि ब्रह्मसमाजी अपने वैयक्तिक धार्मिक जीवन में इतने लिप्त थे कि उन्होंने सामान्य जन समुदाय को विस्मृत कर दिया। उनका दृढ़ विश्वास था कि 'प्रगति का सच्चा परीक्षण उन चिन्हों या संकेतों में दिखना चाहिए जो यह प्रदर्शित करें कि यह विशाल मानव समुदाय अनुप्राणित हो रहा है।' यह नहीं कि कोई अल्पसंख्यक, विशिष्ट समूह, अंग्रेजी-शिक्षा तथा सम्पत्ति के बल पर, केवल स्वयं को ऊँचा उठाने में समर्थ हो।[४] आर्य समाज का ईश्वरवाद वेदों को सत्य का एकमात्र वैध स्रोत मानने का आग्रह करता है तथा प्रार्थना समाज के सदस्य भी इसी धर्ममत से संतुष्ट हो जाते हैं जिसमें ईश्वर का एकत्व ही एकमात्र सकारात्मक विश्वास है।[५] इस प्रकार के ईश्वरवाद में धार्मिक भावना की कोई संभावना नहीं रहती तथा, नैतिकता के विकास में सहायक एवं विवेक द्वारा ग्राह्य, प्रथाओं और कल्पाचारों का भी कोई स्थान नहीं रहता। अतएव ये समाज प्रारम्भिक सफलता के पश्चात्

---

१. वही, पृ.२५२-५३

२. वही, पृ.१२८

३. वही, प्रस्तावना, पृ.६

४. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.१५६, १२७

५. रिलीजन एण्ड सोशल रिफार्म, एस.बी. कोलासकर (एडी.) पृ.२५१-२५२

विफल हो गये क्योंकि पारम्परिक धर्म या भारत की धार्मिक विरासत (हेरीटेज, परम्परा) में उनकी जड़ें नहीं जमीं या उन्होंने काट डालीं। रानडे ने लिखा कि इन सभी समाज आन्दोलनों को अभी तक राष्ट्र के हृदय को आलोड़ित करने में सफलता नहीं मिली है और इनका प्रभाव एक विशेष वातावरण में पले थोड़े से व्यक्तियों तक ही सक्रिय है।[१] स्पष्टतः रानडे इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं थे कि १९वीं शताब्दी का समाज आन्दोलन पूर्ववर्ती युग के भक्ति आन्दोलन जैसा नहीं था जो कि जन-आन्दोलन था।[२] १८९५ में 'हिन्दू प्रोटेस्टेण्टवाद' पर अपने भाषण में उन्होंने कहा कि–'जब तक किसी आन्दोलन का चरित्र सार्वजनिक न हो तब तक निराशा तथा अवसाद (डिस्पाण्डेंसी) का कारण रहता ही है।[३]

आधुनिक ईश्वरवादी आन्दोलन की कमी का उल्लेख करते हुए रानडे ने लिखा कि इन आन्दोलनों का जन्म प्रतिमाभंजक चेतना से प्रभावित लोगों द्वारा हुआ जो प्रतिष्ठापित धर्मों के व्यौरे, तथा मतवादी हठधर्मी से असंतुष्ट होते हैं और प्रतिक्रिया के प्रथम आवेग में निश्चित रूप से उस एकपक्षीयता के शिकार हो जाते हैं जिसका, विद्यमान धर्ममतों के प्रति उनकी विरुचि के कारण उन पर आरोपण किया जाता है।[४] रानडे का मत था कि 'पूर्ववर्ती अर्द्धशताब्दी में समाज सुधार आन्दोलन में, स्वयं सुधारकों में कतिपय अन्तर्निहित त्रुटियों के कारण, अत्यल्प प्रगति हुई। सच्चा, सहज आन्दोलन सभी वर्गों; स्त्रियों व पुरुषों, हिन्दुओं व मुसलमानों को प्रभावित करने वाला होना चाहिए।' ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज तथा आर्यसमाज राष्ट्र के हृदय को आलोकित न कर सके और उनका प्रभाव एक विशेष वातावरण में पले लोगों

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२०१
२. वही, पृ.२०७
३. वही, पृ.२०१, २५२
४. वही, पृ.२५२

तक ही सीमित रहा।[१] तदपि ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज का वे सम्मान करते थे। १८७५ में जब दयानन्द पूना आये (जहाँ उनके १५ प्रवचन हुए) तो रानडे ने उनका भव्य सम्मान आयोजित किया।[२]

रानडे के अनुसार विश्व के इतिहास में कभी भी किसी प्रचलित धर्म को उन्नत मानस वाले समस्त जनों को संतुष्ट करने में सफलता प्राप्त नहीं हुई है। बड़ी संख्या में लोग उससे ऊँचे उठकर शुद्धतर प्रेरणा और पवित्रतर ज्ञान के लिए संघर्षरत रहे हैं। इसे ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि प्रतिष्ठापित धर्मों के प्रवर्तकों या प्रतिपादकों का यह दर्प तथ्यों के अनुरूप नहीं है कि केवल वे ही मानवजाति की धार्मिक प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट कर सकते हैं तथा आत्मा के परीक्षण के अन्तिम या निर्णायक उत्तर प्रस्तुत कर सकते हैं। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे उतने सशक्त नहीं हैं जितने सतही तौर पर प्रतीत होते हैं। उनकी तुलना में नये ईश्वरवादी धर्मों की स्थिति उतनी निर्बल नहीं है जितनी प्रथम दृष्टि में प्रतीत होती है।[३]

अपने ईश्वरवाद को रानडे लोक प्रचलित हिन्दू धर्म तथा कट्टरपंथी ईसाई धर्म, दोनों का ही प्रतिकारक तथा समाज सुधार का सक्षम आदर्श मानते थे। रानडे का विश्वास था कि वे जिस ईश्वरवाद का प्रतिपादन वे कर रहे थे वह पिछली चार शताब्दियों से चले आ रहे स्वदेशी सुधारणा की ही कड़ी था। जबकि ब्रह्म समाज तथा आर्यसमाज के ईश्वरवाद ने उनके सदस्यों के नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान को ही अग्रसारित किया था जबकि वैष्णवों तथा मध्ययुगीन मराठा संतों के ईश्वरवाद का आधार अपेक्षाकृत बृहत और उसका प्रभाव व्यापकतर था। यह ईश्वर के सार्वभौम राज्य का माध्यम बनने वाला

---

१. वही, पृ.२०१-०२

२. जेम्स केलॉक, पृ.६३-६५, डी.जी.कर्वे, रानडे, प्राफेट ऑफ लिबरेटेड इण्डिया, पृ.२४

३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२५४

था तो अपनी विशदता, चरित्र और ईसाई धर्म तथा लोकप्रचलित हिन्दू धर्म की त्रुटियों से मुक्त होने के कारण।[१] यह न तो इतिहास के किसी विशेष प्राकट्य या अवतरण से बँधा था न किसी एक देवदूत, संत या संस्थापक से। यही इसकी सार्वभौमिकता का प्रमाण था।[२] यह व्यक्ति के, सार्वभौम आत्मा से प्रत्यक्ष सम्पर्क या सम्मिलन का प्रतिपादक था।[३] मानव आत्मा विश्वात्मा से आस्था, आशा तथा प्रेम के सूत्रों द्वारा आबद्ध है। यह व्यक्ति को एक ही जीवन तक और, इस प्रकार, उत्थान तथा पतन के एक ही अवसर तक परिसीमित नहीं करता। कर्म का संशोधित विधान, जो इसे नियतिवाद से पृथक करता है, और अतीत को वर्तमान एवं भविष्य से जोड़ता है इसी देश में सर्वश्रेष्ठ रूप में समझा गया, यद्यपि कभी-कभी इसके निष्कर्ष अति तर्कपूर्ण भी थे।[४] यह समृद्धि तथा सत्ता को सर्वाधिक वांछनीय नहीं मानता,[५] ब्रह्माण्ड को यह ईश्वर की रचना और विश्रामस्थल भी मानता है और[६] सहिष्णुता का निर्देश तथा समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम की शिक्षा देता है।[७]

धर्म के भविष्य के प्रति आस्था

धर्म में आ गयी समस्त विकृतियों के बावजूद रानडे इस क्षेत्र में प्रगति के प्रति तथा धरती पर ईश्वर के राज्य की स्थापना के प्रति पूर्णतया आश्वस्त थे। विश्वभर में पनप रहे ईश्वरवादी आन्दोलनों को वे इसका प्रमाण मानते थे।[८]

---

१. डा. मिलर की उक्ति
२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२०१, २०६
३. वही, पृ.२४
४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२४
५. वही, पृ.२५
६. वही.
७. वही.
८. वही, पृ.२५४

उनका कहना था कि मूर्तिपूजक संस्कार, बलि के द्वारा देवताओं की तुष्टि, धार्मिक उत्पीड़न आदि अनेकानेक तत्त्व प्रायः सभी प्राचीन धर्मों के अनिवार्य लक्षण रहे हैं किन्तु, दीर्घकालिकता के बावजूद आधुनिक युग के सभी अपेक्षाकृत प्रगत धर्मों से उनके लोप में कोई बाधा नहीं पड़ी। अतएव यह कहना निराधार है कि विश्व की विभिन्न जातियों की धार्मिक भावनाओं तथा दृढ़ विश्वासों में कोई प्रगति नहीं हुई है।[१] स्पष्टतः वे निराश नहीं थे। भारतीय राष्ट्र, जाति एवं धर्म के उज्जवल भविष्य में उनका दृढ़ विश्वास था। हिन्दू धर्म की प्राचीनता तथा उसके अनवरत संघर्ष के दीर्घ इतिहास के आधार पर रानडे ने हिन्दू धर्म के उज्जवल भविष्य में दृढ़ विश्वास व्यक्त किया। उनका कहना था कि यदि अल्पसंख्यक यहूदियों के अस्तित्व को विस्मयकारी ईश्वरीय विधान बताया जाता है तो मानवजाति के पंचमांश (हिन्दू) का विस्मयकारी अस्तित्व संयोगमात्र नहीं है।[२]

तेलंग के मत को आशावादी कहने वाले रानडे स्वयं महान् आशावादी थे। उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दू धर्म के प्रकाश में, सुधारों के सन्दर्भ में प्रकटतः अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होने वाले, रानडे के दावे उनकी आशावादी प्रकृति के सूचक हैं। अपने देश के विषय में उनका विश्वास था कि विश्व में किसी अन्य देश का अस्तित्व इतने लम्बे समय तक निरन्तर नहीं रहा है। अन्य देशों में विभिन्न जातियों का उदय, उत्कर्ष और पतन हुआ किन्तु, अन्य अनेक क्षेत्रों में अवनति का शिकार होने पर भी, भारतवासी संकट से इस प्रकार रक्षित रहे हैं मानों उन्हें कोई विशेष ध्येय सौंपा गया हो। ---'हम धर्ममत, परम्पराओं, साहित्य, दर्शन, जीवन-पद्धतियों, विचारधाराओं की निरन्तरता का प्रतिनिधित्व करते हैं। ईश्वरीय विधान के मार्गदर्शन में यह अनुग्रह अकारण नहीं हो सकता।'[३]

---

१. वही, पृ.२५३

२. वही, पृ.१४५

३. तेलंग स्कूल ऑफ थॉट, रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१४५

रानडे इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि श्रेष्ठतर सुअवसर का उपयोग अपेक्षाकृत अधिक संकटापन्न होता है। कमजोरी को दूर करना तथा इसकी पुनरावृत्ति न होने देना वे विशेष महत्व का कर्त्तव्य मानते थे। उनका कहना था कि गलती होने पर, उसे छुपाने या उसका बचाव करने के बजाय, इसके निराकरण के लिए प्रयास करना चाहिए और इसकी पुनरावृत्ति से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। सच्ची आशावादिता की वे यही सीख मानते थे।[१] रानडे का विश्वास था कि ठोस आशावादिता, 'परिवर्तन के प्रति उत्साहहीन या भाव-शून्य तटस्थता' और 'मनोवृत्ति की उस आशापूर्णता' के बीच स्वर्णिम मध्यमान है जो शताब्दियों का कार्य दशकों में, दशकों का वर्षों में और वर्षों का दिनों में करने की इच्छा रखती है। यह मानसिक स्थिति थोड़ी-सी सफलता से हमें प्रफुल्लित कर देती है और हर छोटी असफलता पर अवसादयुक्त बना देती है।[२]

रानडे की सम्मति थी कि आशावादिता इस विश्वास पर आधारित होती है कि हमें कोई विशेष ध्येय सौंपा गया है, यह ध्येय हममें से किसी एक के द्वारा नहीं बल्कि उसके द्वारा सौंपा गया है जिसे इसकी शक्ति प्राप्त है। यह विश्वास एक ठोस आधारशिला पर स्थित है; हमारी सामान्य बुद्धि की या हमारी शक्तियों या क्षमता की नींव पर नहीं। यह एक धार्मिक विश्वास है कि हमें इस प्रकार का मार्गदर्शन केवल इसी एक शर्त पर दिया जाता है कि हमें अपने उद्धार एवं उत्कर्ष का प्रयास स्वयं करना है और यह कार्य किसी एक दिशा में नहीं होना है। हमे अपनी मांसपेशियों व स्नायु-तंत्र को दृढ़ बनाना है, हमारे हृदय को सभी दिशाओं में न्याय की चेतना के प्रति मानवीय भावना से परिपूर्ण होना है, हमारी बुद्धि को पूर्वाग्रहों तथा पक्षपात से मुक्ति प्राप्त करनी है; लम्बे समय से हावी अन्धविश्वासों से हमें मुक्त होना है। हर एक को अपने उद्धार व उत्कर्ष के लिए स्वयं प्रयास करना है।[३]

---

१. वही, पृ.१५३
२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१४७
३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१५४

उनका दावा था कि धर्म तथा धार्मिक सुधारों के सन्दर्भ में हमें विदेशी मार्गदर्शकों की अपेक्षा स्वदेशी मार्गदर्शकों को वरीयता देनी चाहिए क्योंकि विदेशी हमारे अपने नहीं है।[१] हिन्दू सुधारकों से संबंधित उनके लेखों तथा भाषणों से प्रकट होता है कि वे मानते थे कि भारत में धार्मिक सुधारों के लिए उत्प्रेरणा सदैव अन्दर से भी उतनी ही प्राप्त हुई है जितनी बाहर से।

बम्बई प्रार्थना समाज में 'हिन्दू प्रोटेस्टेण्टीज्म' पर अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा कि इसकी जड़ें हमारे इतिहास में गहराई से जमी हैं और हमें इसका अध्ययन करना चाहिए, यदि हमें जानना हो कि हम वास्तव में क्या हैं और हमें किधर जाना है।[२] किन्तु उनका यह विश्वास किसी धर्म के प्रति के प्रति विद्वेष की भावना से दूषित नहीं था। वे धर्मप्राण थे, धर्मान्ध नहीं। धर्म, आध्यात्म, नैतिकता और ईश्वर में वे विश्वास व आस्था रखते थे परन्तु रूढ़िवादी, कट्टरपंथी और अन्धविश्वासी नहीं थे। अन्धविश्वास को वे त्याज्य मानते थे परन्तु आस्था को नहीं, क्योंकि 'नैसर्गिक ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर को आस्था, आशा और प्रेम के द्वारा ही पाया जा सकता है।'[३] 'एक ईश्वरवादी की आस्था की आत्म स्वीकृति' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने अपने ईश्वरवाद में–प्रतिपादित मतों को सभी धर्मों में अन्तर्निहित बताया। उनको वे सभी मनुष्यों, जातियों, पंथों या धर्ममतों (क्रीड्स) पर निष्ठा प्रदान करने वाला शुद्ध ईश्वरवाद कहते थे।[४] ईश्वर की अनुकम्पा के प्रति आस्थावान रानडे की दृष्टि में उनके द्वारा प्रतिपादित ईश्वरवाद लोक प्रचलित हिन्दू धर्म तथा कट्टरपंथी ईसाई धर्म दोनों का प्रतिकारक था और समाज–सुधार का सक्षम आधार[५] अथवा आदर्श था।

---

१. वही, पृ.२०५

२. वही, पृ.२०५

३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२२

४. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२५९–७८

५. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१०–१२

वे स्वीकार करते थे कि ईश्वरवाद आदिम (प्राइमल, मूल) धार्मिक प्रश्नों, जैसे आत्मा की अनश्वरता, सृष्टि तथा ईश्वर की निस्सीमता के अंतिम उत्तर प्रस्तुत करने का दावा नहीं करता।[१] उनका आग्रह इतना ही था कि हम इन उत्तरों तथा सत्यों तक ही पहुंच सकते हैं जो व्यावहारिक दृष्टि से पर्याप्त हों तथा नैतिक दृष्टि से विश्वास योग्य (निश्चितता–सर्टीच्यूड के भागीदार) हों।[२] उपरोक्त तथ्यों में से कुछ इसप्रकार हैं–व्यवस्था, प्रकृति का नैरन्तर्य तथा एकरूपता, प्रकृति के लक्षणों (विग्रहों–एट्रीब्यूट्स) से संकेतित परमपिता (सुप्रीम बिंग) का अस्तित्व, विचार एवं वास्तविकता के बीच संगति अथवा विचार एवं उसके विषय (ऑब्जेक्ट) की संगतता, सार्वभौम तत्वों का तथ्य, आत्म या स्व (सेल्फ) का वास्तविक अस्तित्व और इस प्रकार मनुष्य, प्रकृति तथा ईश्वर का त्रिक।[३]

विभिन्न समकालीन समस्याओं से संबंधित रानडे के विचार परस्पर सम्बद्ध थे।[४] एक प्रत्ययवादी (आइडीयालिस्ट) के रूप में रानडे का राजनीतिक, सामाजिक चिन्तन[५] (अर्थव्यवस्था, शिक्षा एवं इतिहास संबंधी

---

१. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२५६, २५७, २६० रानडे का कहना था कि पूर्ण (एबसाल्यूट) की खोज में मानव–मानस यहीं तक पहुंच सकता है। इससे अधिक की इच्छा या आशा–निराशा या संशयवाद को ही जन्म दे सकती है। उपलभ्य को स्वीकार कर हम उस मतान्धता तथा सर्वसत्तावाद से बच सकते हैं जो स्थापित धर्मों में दिखाई देता है पृ.१२, १४

२. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.६६

३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१७

४. १८६३ में जनसंख्या संबंधी अपने लेख में उन्होंने पाप या बुराई के प्रश्न का भी गहन विवेचन किया था।

५. रानडे के सामाजिक, राजनीतिक दर्शन का जन्म भारत के शास्त्रीय दर्शनों के प्रति असंतोष (मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.११७), ईश्वरवाद से प्रतिबद्धता (रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२६२) और 'घनीभूत निराशा के दिनों में' केशवचन्द्र सेन आदि के सम्पर्क के फलस्वरूप हुआ। एम.एन. झा, पृ.३४

चिन्तन भी) धर्म तथा तत्वमीमांसा पर उसी प्रकार आधारित था जिस प्रकार हॉब्स का भौतिक-विज्ञान और स्पेन्सर का जीव-विज्ञान पर।[१] अनेक दृष्टांतों से स्पष्ट प्रकट होता है कि सामाजिक प्रश्नों से संबंधित उनके विचारों, विशेषरूप से सामाजिक तथा राजनैतिक सिद्धान्तों के केन्द्रीय मुद्दों और समाज तथा समाज-सुधार से संबंधित उनके विचारों, का उनके विशिष्ट धार्मिक तथा तत्व-मीमांसीय विचारों से घनिष्ट संबंध था, भले ही वे इनसे उद्भूत न हुए हों।[२] रानडे का कहना था कि, 'तत्वमीमांसा और समाजशास्त्र परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। व्यक्तिगत एवं सामाजिक समृद्धि मानव अस्तित्व के प्रश्न के समाधान पर अवलम्बित है। यही तत्वमीमांसा नैतिकता, व्यवस्थापन तथा राष्ट्रनीति का निर्धारण करती है।[३]

अस्तु, रानडे की सम्मति में धर्म सामाजिक दर्शन से पृथक नहीं था। उनके समाजसुधार संबंधी व्याख्यानों के सूक्ष्म अध्ययन से प्रकट होता है कि उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली में अपने सामाजिक दर्शन में धर्म को प्रथम स्थान प्रदान किया था अथवा कम से कम उक्त स्थान को धर्म द्वारा अधिकृत किये जाने के लिये छोड़ दिया था। उनके लेखों में यह मान्यता स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि 'धर्म जीवन का केन्द्रीय स्रोत या तत्व है और धर्म में हम उस संघटनात्मक (सावयवी-ऑर्गैनिक) जीवन शक्ति को स्पर्श करते हैं जो सक्रियता के रूप में प्रवाहित हो सकती है।'[४] उनका मत था कि, 'धर्म समाज-सुधार से उसी प्रकार अपृथक्करणीय है जिस प्रकार मानव के प्रति प्रेम ईश्वर के प्रति प्रेम से।'[५]

---

१. पी.जे. जागीरदार, स्टडीज, पृ.८३
२. चार्ल्स हेमशठ, इण्डियन नेशनैलीज्म एण्ड हिन्दू सोशल रिफार्म, पृ.१९२
३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.५
४. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ. ७१, २३४
५. पी.जे. जागीरदार, पूर्वोद्धृत।

उनका नाम भारत में समाज–सुधार आन्दोलन के साथ विशेष रूप से जुड़ा है क्योंकि, एक तो वे वैचारिक दृष्टि से इसकें प्रति समर्पित थे और दूसरे उन्होंने ही उसकी कल्पना अखिल भारतीय आंदोलन के रूप में की थी जिसमें सभी जातियों के धर्मों के लोग शामिल हों। सार्वजनिक प्रश्नों का उन्होंने बृहत् अध्ययन किया था। उनकी रूचि का क्षेत्र विस्तृत एवं व्यापक था। उनकी कतिपय वरीयताओं या अधिमान्यताओं में सर्वोच्च स्थान समाज–सुधार को प्राप्त था। सुधार के क्षेत्र में जो संभव था उस पर वे स्थिर रूप से डटे रहते थे। धार्मिक अनुशासन को मात्र वैयक्तिक स्तर तक ही सीमित न रखने वाले सुधारक रानडे ने प्रार्थना समाज के माध्यम से वैयक्तिक धर्माचरण को समाज–सुधार सें जोड़ा। प्रार्थना समाज के समाचार पत्र के २ दिसम्बर १८७७ के अंक में कहा गया कि 'अब यह (प्रा.स.) राजनीतिक प्रश्नों के बजाय सामाजिक तथा धार्मिक पुनरुत्थान पर अपने प्रयासों को संकेन्द्रित करेगा।' पत्र ने समाज की अनेकानेक कमियों, युवजनों की प्रगति में विद्यमान नैतिक बाधाओं और धर्म के प्रति घोर उदासीनता को देखते हुए इस क्षेत्र (धार्मिक–सामाजिक पुनरुत्थान) में कार्य करना अधिक सन्तोषप्रद बताया।[१]

रानडे के सुधार संबंधी प्रयास प्रगति–विषयक विचारों पर आधारित थे। धर्मप्रवण रानडे प्रगतिशील जनों के स्वाभाविक नेता थे। वास्तव में कोई भी विषय प्रगति के प्रति उनके प्रेम से परे नहीं था और उनके प्रगति विषयक चिन्तन में ईश्वरीय विधान का महत्वपूर्ण स्थान था। वे प्रगति के 'अपरिहार्य' विधान को नहीं वरन् 'प्रगति के विचार' को स्वीकार करते थे। उनकी सम्मति में विस्तृत बाह्य जगत में सक्रिय शक्तियाँ, अस्थायी अवरोधों तथा प्रकट प्रतिगमन के बावजूद, मानव के उत्थान एवं सुख के लिये मानवीय–प्रयास के श्रेष्ठ तत्वों का प्रतिनिधित्व करती हैं।[२] प्रगति की सच्ची कसौटी रानडे

१. 'सुबोध पत्रिका', २ दिसम्बर १८७७, पृ.१
२. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.२४६

उन लक्षणों में देखते थे जिनसे प्रकट हो कि 'मानव जाति का विशाल समुदाय उस पवित्र अग्नि द्वारा अनुप्राणित हो रहा था जो शुद्धीकरण तथा उन्नयनमात्र के लिये प्रज्वलित होती है।'[१] अस्तु, वे धर्म तथा नैतिकता के क्षेत्र में होने वाली प्रगति को ही प्रगति का सारतत्व मानते थे। 'मनुष्य की वास्तविक सम्पत्ति वह नहीं है जो उसके पास है बल्कि यह है कि वह क्या है और क्या बन सकता है।'[२] मानव की बुद्धिमत्ता से अधिक वे उसकी अन्तर्निहित क्षमता में विश्वास करते थे। उनकी सम्मति थी कि 'व्यक्ति का मूल्यांकन उसके वर्ग तथा जाति की दृष्टि से नहीं करना चाहिए।'

ब्रह्माण्ड के प्रयोजन एवं अभिकल्पना में विश्वास के कारण रानडे उद्‌विकास (इवोलूशन) की जीव-शास्त्रीय अवधारणा को स्वीकार नहीं करते थे। ईश्वर में तथा अंतश्चेतना, अर्थात् मानव-हृदय में विद्यमान ईश्वर की वाणी, में आस्था को पुष्टिकारक तत्व मानने के कारण[३] रानडे का जीव-शास्त्रीय उद्‌विकास सिद्धान्त के उस रूप से विरोध था जिसमें अंतश्चेतना को पूर्णतया पर्यावरण द्वारा उत्पन्न माना जाता था और ईश्वर से उसका संबंध-विच्छेद कर दिया जाता था।[४] उन्होंने इस अवधारणा का, अंतश्चेतना से समन्वय का प्रयास किया जो ईश्वर की अभिव्यक्तिस्वरूप है। उनका मत था कि 'पर्यावरण द्वारा प्रभावित होने पर भी, अंतश्चेतना मानव की दैवी प्रकृति की सूचक है।' उनके ऐतिहासिक लेखों से यह अवश्य प्रकट होता है कि सामाजिक उद्‌विकास में सामाजिक पर्यावरण के योगदान को वे मान्य करते थे किन्तु, उनकी सम्मति में, 'व्यक्ति के अन्तर में स्थित अंतश्चेतना के फलस्वरूप होने वाले चरित्र-परिवर्तन से ही सामाजिक उद्‌विकास होता है।'

---

१. वही, पृ.१२७

२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२३

३. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.६९

४. वही, पृ.६८-६९

मानव की अंतश्चेतना तथा ईश्वरीय विधान में गहन विश्वास के आधार पर उन्होंने पूर्व की अपरिवर्तनशीलता की अवधारणा का खण्डन किया (राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन के १८९२ ई. के अधिवेशन में)। वंशानुगतता तथा पर्यावरण के प्रभाव को वे स्वीकार अवश्य करते थे किन्तु उनका प्रबल आग्रह था कि, 'अंतश्चेतना द्वारा प्रेरित दृढ़ संकल्पयुक्त प्रयास से उपरोक्त तत्वों द्वारा उपस्थित बाधाओं पर विजय प्राप्त की जा सकती थी।'[१] अर्थात् वे अंतश्चेतना तथा ईश्वरीय विधान को वंशानुगतता के अवरोध पर विजय प्राप्त करने में समर्थ मानते थे। कोई हार्दिक प्रार्थना, कोई आत्मत्यागी अभिलाषा, मिथ्यावादिता और अज्ञान के विरुद्ध गम्भीर, सत्यनिष्ठ संघर्ष, ईश्वरीय विधान के अन्तर्गत कभी भी विफल नहीं हो सकता।[२]

रानडे का विश्वास था कि विभिन्न समाजों में समस्त ऐतिहासिक प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में, धर्म-परायणता की दिशा में सक्रिय, एक अनुग्रहशील शक्ति है जो व्यक्तियों की अंतश्चेतना के माध्यम से कार्य करती है। ऐतिहासिक विकासक्रम में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या, आंशिक रूप से, समाज विशेष में इस शक्ति के सबल या क्षीण पड़ने के आधार पर की जा सकती है।[३] इसी कारण, बाह्य दशाओं के सुधार के उपायों पर विचार करते हुए, वे बार-बार आभ्यंतरिक वैयक्तिक धर्म के महत्व पर जोर देते थे। १८९१ में रा. सा. सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन के अवसर पर हिस्लॉप कॉलेज में उन्होंने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया था।[४]

भारतीय समाज (विशेषतः हिन्दू समाज) में व्याप्त बुराइयों से रानडे भलीभाँति अभिज्ञ थे। १८९७ ई. में रा.सा. सम्मेलन के अधिवेशन में उन्होंने

---

१. रानडे, मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.७१, २३४

२. वही, पृ.११२

३. रानडे, मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.७१, २३४

४. वही, पृ.११२

इस बात की ओर ध्यान पुनः आकृष्ट किया था कि-'हम भ्रष्ट हो गये हैं। हमने अपनी श्रेष्ठता गंवा दी है, हम सैकड़ों स्थानों पर झुके हैं। हमारे कान अपने पड़ोसियों के विषय में लोकापवाद के लिये चौकन्ने रहते हैं, हमारी जिह्वा वर्जित फल चखने को ललचाती है, हमारे हाथ दूसरों की सम्पत्ति के लिये खुजलाते हैं, हमारे पात्र अपाच्य भोजन से दूषित हैं। हम अपने पाँवों पर खड़े नहीं हो सकते, बल्कि हमें वैसाखियों की आवश्यकता होती है। अब हम इस विरूपता को मिटाने को इच्छुक हैं।' अतएव उनकी समस्त गतिविधियों तथा कार्यों का मूलभूत स्रोत था-'भारतीय समाज का सुधार।'[१] 'सदर्न इण्डिया ए हण्ड्रेड इयर्स अगो' शीर्षक भाषण में उन्होंने सुधार को वास्तव में 'उद्धार का या विमुक्ति का कार्य' कहा था। उन प्रतिबंधों-निषेधों से मुक्ति जो, 'स्वार्थ पूर्ण लाभ के लिये, मात्र पाशविक बल के दबाव के समक्ष हमारे आत्मसमर्पण के द्वारा, निश्चितरूपेण श्रेष्ठतर धर्म, विधि एवं व्यवस्था (पॉलिटी), तथा संस्थाओं और परिपाटियों (कस्टम्स) पर आरोपित किये गये।'[२]

गहन धार्मिक भावना से युक्त होते हुये भी रानडे मानते थे कि अपेक्षाकृत अधिक लौकिक विषयों की उपेक्षा और धार्मिक विषयों से अतिशय लिप्तता भी (सहकार भावना तथा अनुशासन के अभाव के सहित) एक बड़ी बुराई थी जिसे वे मूल्यों के किसी मापदण्ड का सूचक नहीं, वरन् अविकसित राष्ट्रीय मानस का द्योतक मानते थे। इस 'मानसिक पंगुता' को दूर करने के लिये वे सतत सचेष्ट रहे क्योंकि यह भारत के स्थायी पुनरुज्जीवन के मार्ग की 'आन्तरिक बाधा' थी।

समाज सुधार आन्दोलन को वैचारिक आधार प्रदान करने में रानडे अग्रणी थे। समाज सुधार संबंधी उनकी दृष्टि मानव प्रगति के समस्त क्षेत्रों या पक्षों को समेटने वाली थी। समाज सुधार को वे उद्धार का कार्य मानते थे जिससे

---

१. टी.वी. पर्वते, म.गो. रानडे ए बायोग्राफी, पृ.१४७

२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१९४

संबंधित आन्दोलन को उन्होंने आध्यात्मिक रूप प्रदान किया क्योंकि वे मानते थे कि इसका उद्देश्य मनुष्य की बुद्धि को उन्मुक्त कर, उसकी कर्त्तव्य भावना को जागृत कर, तथा उसकी समस्त शक्तियों को पूर्णता तक पहुँचा कर समूचे मानव को शुद्ध एवं पूर्ण बनाना था।[१] उनका कहना था कि अधूरा उदारवाद निरर्थक था–सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी पक्ष/क्षेत्र परस्पर आबद्ध हैं। सुधार इन सबमें होना है।

सुधारों के लिए वे किसी एक पद्धति का नहीं समस्त पद्धतियों का अनुसरण करने के समर्थक थे[२] १८८७ में कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन के अवसर पर उन्होंने दीवान बहादुर रघुनाथराव और सर टी. माधवराव के सहयोग से राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन की स्थापना की और महामंत्री के रूप में आजीवन सम्मेलन की कार्रवाइयों का संचालन करते रहे। सम्मेलन का उद्देश्य उन्होंने व्यक्ति के चिन्तन एवं कर्म की स्वतंत्रता को व्यापक बनाना बताया ताकि व्यक्ति स्वयं के लिए सोच सके, अनुभव कर सके, कार्य कर सके।[३] यह सम्मेलन अखिल भारतीय समाज सुधार आन्दोलन का केन्द्रबिन्दु बन गया। रानडे ने निजी रूप से भी देश के विभिन्न भागों में चल रहे समाज सुधारक प्रयासों से सम्पर्क बनाये रखा। सम्मेलन के विभिन्न अधिवेशनों में समाज सुधार संबंधी अपने दर्शन का निरूपण करने के साथ ही इस दिशा में होने वाली प्रगति का आकलन भी वे करते रहे।

सुधार संबंधी उनकी योजना सर्व समावेशकारी थी जिसके अन्तर्गत समूचे अस्तित्व को उन्नत बनाना था। वे समाज को प्रतिष्ठा से स्वातंत्र्य की ओर, सहज विश्वास से आस्था (श्रद्धा) की ओर, प्रस्थिति से संविदा की ओर, प्राधिकार या प्रामाण्य से विवेकबुद्धि की ओर, असंगठित से संगठित जीवन

---

१. वही, पृ.१७९

२. मिशसेलेनियस राइटिंग, पृ.१५९

३. वही, पृ.२०८

की ओर, कट्टरता से सहिष्णुता की ओर, अन्ध भाग्यवाद से मानव गरिमा की ओर अग्रसर करना चाहते थे।[१] सुधारण के लिए मनुष्य के अंतश, विचारों, विश्वासों में परिवर्तन उनके मतानुसार अनिवार्य था। इसलिए सुधार का सर्वोत्तम उपाय व्यक्ति की अंतश्चेतना से निवेदन करना था,[२] अर्थात् वे समाज को नये सांचे में ढालने के पक्ष में थे। सुधारक को अपने परिवार, गांव, जाति और राष्ट्र सबको नये सांचे में ढालने का प्रयास करना था। अस्तु समाज सुधार अवकाश मिलने पर या इच्छा होने पर किया जाने वाला कार्य नहीं बल्कि अनिवार्य दायित्व था।[३] यद्यपि रानडे पुनरुत्थानवादी नहीं थे क्योंकि समाज जैसे जीवित संघटन में पुनरुत्थान संभव नहीं है,[४] तदपि वे अतीत से संबंधविच्छेद के समर्थक नहीं थे और उनकी सम्मति में सुधारक अतीत के अधूरे कार्य को ही आगे बढ़ाता है या 'अधूरे वाक्य को पूरा करता है'[५]

समाज-सुधार की दृष्टि से रानड़े स्वतंत्रता, विवेकसम्मत आचरण, सुसंगठित सुनियोजित प्रयास, सहिष्णुता एवं मानवगरिमा को, प्रमुख निर्धारकों के रूप में मान्य करते थे। जीवन की प्रकृति एवं प्रयोजन, आत्मा, अंतश्चेतना, मोक्ष आदि से संबंधित उनके विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य के नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास को ही वे स्वातंत्र्य मानते थे अर्थात् आत्मा की मुक्ति की दिशा में समस्त मनःशक्तियों व क्षमताओं का विकास, जिसमें अवरोध व्यक्ति के अन्दर विद्यमान कतिपय तनावों से ही उत्पन्न होता है। यद्यपि सामाजिक परिवर्तन के लिए उन्होंने किसी एक आधारभूत सिद्धान्त को इंगित नहीं किया परन्तु, प्रतीत होता है कि समुदाय की नैतिक ओजस्विता

---

१. वही, पृ.११६

२. वही, पृ.१९२

३. वही, पृ.१९६

४. वही, पृ.१९१

५. वही, पृ.११८

को वे न्यूनाधिक अंशों में सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख कारक मानते थे।[१] यह ओजस्विता अन्तश्चेतना से उत्पन्न होती है जो मनुष्य को दोषों के निराकरण और रूढ़िवाद को चुनौती देने की शक्ति प्रदान करती है। यह 'अन्तश्चेतना ही हमारे आचरण की मार्गदर्शक और संकल्प में सहायक है।' सामाजिक विकास के सन्दर्भ में उनका विवेक के प्रति प्रबल आग्रह था।[२] जर्मन विचारक काण्ट की भाँति वे शुद्ध विवेक के आलोचक और व्यावहारिक विवेक के पक्षधर थे 'जो मनुष्य को ईश्वरीय विधान के बोध में सहायता पहुँचाता है।[३] विवेक और आस्था अर्थात् व्यावहारिक विवेक को उन्होंने परस्पर विरोधी नहीं माना। उन्होंने सदैव व्यक्तिगत विवेक का समर्थन किया और प्रकटतः विपरीत धार्मिक पाठों के बावजूद, उसे समाज व धर्मसुधार का आधार बनाया।[४] अतएव, 'सामाजिक संरचना में समयानुकूल परिवर्तन से पहले व्यक्ति के जीवन और आन्तरिक विचारों में परिशोधन' उनकी सम्मति में आवश्यक था जो 'बाह्यरूप का निर्धारण करता है।'[५] शुद्धता व न्याय की चेतना को वे स्वातंत्र्य की उत्प्रेरणा (जिसका मानव-मानस में अनेक चरणों में जन्म एवं विकास होता है) का प्रथम चरण मानते थे।[६] समाज के सन्दर्भ में स्वातंत्र्य का अर्थ था-'रूढ़ियों से मुक्त अन्तश्चेतना के आदेशों के अनुरूप जीवन के अनुकूल सामाजिक वातावरण' और राजनीतिक स्वातंत्र्य का अर्थ था-'अन्तश्चेतना के आदेशानुसार जीवनानुकूल वैधानिक तथा राजनीतिक वातावरण।' उनके इस स्वातंत्र्य विषयक सिद्धान्त में, अति भौतिकतावाद और

---

१. पी.जे. जागीरदार, स्टडीज इन---, पृ.५३
२. रानडे-मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.११८
३. वही, पृ.२५७ : रानडे, रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७८
४. रानडे, मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.१७८
५. वही, पृ.१९२
६. वही, पृ.११२

अतिव्यक्तिवाद के स्थान पर, आध्यात्मिक विकास और मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की श्रेष्ठता प्रतिध्वनित होती है।[१]

समाज सुधार के सन्दर्भ में रानडे को अन्तरात्मा अथवा अंतश्चेतना को प्रभावित करने वाली पद्धति विशेष प्रिय थी। उनकी सम्मति में सर्वोपरि सत्ता अन्तर में स्थित ईश्वरीय वाणी या अन्तश्चेतना थी जिसके मार्ग में बाह्य सत्ता (यथा ब्रह्मज्ञान, धर्मग्रन्थ, सन्तोपदेश आदि) के प्रति सम्मान को वे बाधक नहीं बनने देना चाहते थे क्योंकि बाह्य सत्ता या प्रमाणों पर निर्भरता अंतश्चेतना को संवेदनशून्य बना देती है।[२] रानडे का नैतिक संहिता की श्रेष्ठता में विश्वास था।[३] सुधार या परिवर्तन के लिये 'अन्तर्विवेक की उत्प्रेरणा उनकी दृष्टि में बाह्य उपकरणों से अधिक सक्षम' थी और 'बाह्य शक्ति का भय या अन्ध अनुराग सारहीन' था।[४]

समाज सुधार की विभिन्न पद्धतियों में उन्होंने प्राचीन परम्पराओं तथा धर्मशास्त्रों की युगानुरूप व्याख्या की परम्परावादी पद्धति को भी मान्य किया। इसका उद्देश्य प्राचीन संस्कृति से नैरन्तर्य बनाए रखना तथा पुरातनपंथियों का शमन करना था। विवाह-संबंधी सुधारों के सन्दर्भ में उन्होंने धर्मपरायणता का आश्रय लिया, बौद्धिकता का नहीं।[५] १८७० ई. में उन्होंने एक लेख लिखा 'विधवा विवाह के लिए वैदिक प्रमाण'। इसी प्रकार १८८८ ई. में 'बाल विवाह के संबंध में शास्त्रीय मत' शीर्षक लेख लिखा। रानडे ने परम्परावादी पद्धति की सीमाएं भी स्वीकार कीं और माना कि 'प्रत्येक क्षेत्र में शास्त्र आवश्यक प्रमाण का कार्य नहीं कर सकते।' अतः वे, अनिवार्य होने पर, सामाजिक

---

१. वही, पृ.६८
२. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.१९४
३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७८
४. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.१९४
५. बी.बी. मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन ---, पृ.१४

विधि-निर्माण का भी समर्थन करते थे। १८८६ ई० में बहराम जी मलाबारी द्वारा प्रस्तावित सुझावों पर 'ज्ञान-प्रकाश' में एक लम्बे पत्र में, अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने, भारत के विभिन्न क्षेत्रों में, सामुदायिक, सांस्कृतिक विभिन्नताओं और विपर्यय के कारण, व्याप्त अव्यवस्था में केन्द्रीय नियंत्रणकारी शक्ति के अभाव तथा धर्मग्रन्थों व महापुरुषों के क्षीण होते प्रभाव को सहायक बताया। उनकी सम्मति में इस स्थिति में सरकार समाज की नियंत्रणकारी शक्ति के रूप में उपयोगी होती है।[१] सहमति वय को दस से बारह वर्ष करने के लिये वे इसके पक्ष में थे।[२] रानडे द्वारा सरकार को प्रेषित एक स्मरणपत्र का आशय यह था कि, 'आत्म नियंत्रणकारी शक्ति के अभाव में, हिन्दू समाज के उद्धार का एकमात्र उपाय यही था कि, 'तथाकथित धार्मिक निर्देशों को भंग कर, क्रमिक रूप से वैधानिक प्रतिबंधों में परिणित किया जाय।'[३]

धर्म की विभिन्न अवधारणाओं से प्रभावित व्यक्ति, सार्वजनिक जीवन के संबंध में परस्पर टकराने वाले निष्कर्षों पर पहुँचते थे। सहमति वय विवाह इसका सटीक उदाहरण माना जाता है। इस विवाद ने रानडे की स्थिति को क्षीण बनाने में विशेष योगदान दिया क्योंकि, कहा जाता है कि 'मलाबारी के सहमति वय विवाद में शामिल होते ही रानडे ने धर्माचरण व राजनीति को परस्पर सम्बद्ध कर दिया।' समाज सुधार के लिये विधि-निर्माण में उन्होंने विश्वास व्यक्त किया तदपि वे जानते थे और मानते थे कि सामाजिक प्रगति के लिये धार्मिक दृढ़ संकल्प का होना भी आवश्यक है। 'हमारा ध्यान आकृष्ट करने वाली जटिल सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिये पर्याप्त बल जुटाने के लिये धार्मिक पुनरुत्थान आवश्यक है। केवल युक्तियुक्तता अथवा लाभ-हानि के आर्थिक विचार ही किसी समुदाय को समाज सुधार के लिए

१. जी.जे. जागीरदार, महोदव गोविन्द रानडे, पृ.२०५
२. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.१०५-०८
३. टी.वी. पर्वते, एम.जी. रानडे, ए. बायोग्राफी, पृ.२५३

प्रेरित करने को पर्याप्त नहीं हैं–विशेषतः हमारे समुदाय में जो परम्परा और सत्ता (प्रमाण) से इतने प्रबल रूप से जकड़ा हुआ हो।'[१]

न्यायमूर्ति के.टी. तेलंग को प्रेषित एक पत्र में उन्होंने लिखा था कि– 'समाज सुधार के कार्य में शंकराचार्यों से विचार–विमर्श कतिपय विषयों में उपादेय था।' साथ ही, धर्माधिकारियों को अपना प्रत्यक्ष शत्रु या समाज–सुधार के संदर्भ में अनुपोदय मानना, उनकी सम्मति में, बचकाना था।[२] वे अनुभव करते थे कि धर्माध्यक्षों द्वारा समाज सुधार का समर्थन किये जाने से, समाज सुधार के पक्ष में जनचेतना जागृत होगी और सुधारवादी प्रयासों के प्रति 'धर्मपरायण' जनता में उत्पन्न होने वाले विरोध का शमन होगा।[३]

रानडे यद्यपि हिन्दू थे, हिन्दू वंशक्रम में विश्वास करते थे और प्रार्थना समाज को हिन्दू धर्म से भिन्न नहीं मानते थे तथापि उन्होंने हिन्दू समाज व धर्म में व्याप्त–मूर्तिपूजा, जातिप्रथा, अस्पृश्यता आदि से मुक्ति का भी प्रयास किया।[४] अपनी गहन धार्मिक भावना के बावजूद रानडे उपासना को व्यक्तिगत कार्य मानते थे और उसे व्यक्तिगत बनाए रखने के पक्ष में थे। इसी कारण वे समस्त देशवासियों के बीच एकात्मकता की भावना के विकास के उत्कट समर्थक थे।[५] सामाजिक समानता, नारी स्वातंत्र्य एवं धार्मिक सहिष्णुता में उनका अटूट विश्वास था।

ईश्वरवादी सिद्धान्तों में विश्वास के आधार पर उन्होंने भागवत धर्म अथवा भक्ति आन्दोलन का समर्थन किया और जातिप्रथा की आलोचना की। जातिप्रथा को रानडे 'भारतीय सामाजिक प्रणाली का प्रमुख कलंक' मानते थे जिसने

---

१. गिडूमल, स्टेटंस ऑफ वीमेन, पृ.१२०–२१
२. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२९–३०
३. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.१५८
४. जेम्स केलॉक, पूर्वोद्धृत, पृ.१५१–५२
५. जागीरदार, महादेव गोविन्द रानडे, पृ.२२६

सामाजिक जीवन में खानपान, विवाह संबंध आदि में भेदभाव, दूरी, अलगाव को जन्म दिया तथा 'छोटे से छोटे समुदाय में सिमटने को गौरवान्वित किया।' रानडे की उत्कट इच्छा थी कि भारतीय, अलगाव तथा अनन्यता की प्रवृत्ति को त्याग कर, 'बन्धुत्व या नमनीय प्रसरणशीलता की भावना' को विकसित करें ताकि मानव मात्र की समानता को मान्य कर सकें।' रानडे के अनुसार, सन्तों ने, जन्म तथा सामाजिक पदानुक्रम के संयोग से स्वतंत्र रूप में, मानव-आत्मा की गरिमा पर जोर दिया था, मानव की आध्यात्मिक प्रकृति की अवधारणा को ऊँचे उठाया था और जातिगत असहिष्णुता को कम करने का प्रयास किया था। उन्होंने इस विचार का खण्डन किया कि ब्राह्मणों को ईश्वर ने बनाया है और अन्य जातियों को उनकी सेवा और पूजा करनी चाहिए। जन्म के आधार पर नीची माने जाने पर भी 'नीची' जातियाँ आस्था तथा प्रेम के बूते पर मोक्ष की अधिकारिणी थीं। इसी कारण, योगमार्ग तथा ज्ञानमार्ग की अपेक्षा, रानडे भक्तिमार्ग अथवा भागवत धर्म को विशेष महत्व देते थे क्योंकि 'उक्त दो मार्ग शूद्रों को कोई अधिकार नहीं देते।' इसके अलावा, 'ज्ञानमार्ग थोड़े से चुने हुए लोगों के लिये था और योगमार्ग सामान्य व्यक्ति के लिये कठिन था।'[१] इनकी तुलना में सुगम तथा सर्वसुलभ भागवत धर्म के अन्तर्गत महार, नाई, चमार (मोची), कसाई तथा अन्य 'नीची' जातियों के सदस्य भी सन्त बन सकते थे। अस्तु, भक्ति आन्दोलन शूद्रों को सामाजिक व आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के प्रायः समस्तरीय बना सकता था।

रानडे ने, जाति एवं समुदाय के प्रति निष्ठा के मूल्यों से ऊपर, वैयक्तिक अंतरात्मा तथा मानवतावादी आदर्शों को सर्वोपरि महत्व प्रदान कर, व्यावहारिक समाज सुधार व समाज सेवा आन्दोलन का दार्शनिक आधार निर्मित किया। इसके पीछे रानडे के धार्मिक विश्वासों का विशेष योगदान था। इससे वे ही

---

१. धर्म पर व्याख्यान, पृ.८-६, २५; मिशसेलेनियस वर्क्स, पृ. १७०, १९३, २३६ और रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.२७०-७४

लाभान्वित हुए 'जिनका धर्म ईश्वर की अपेक्षा मानवता के प्रति भक्ति' था[१] अतएव, अपने 'सामाजिक प्रतिरूपों या पूरकों सहित', 'धार्मिक उत्थान के साथ ही प्रगति की निरन्तरता' रानडे का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सन्देश था।[२]

ईश्वरवादी सिद्धान्त के आधार पर ही रानडे ने समस्त स्त्री-पुरुषों को समान रूप से ईश्वर की सन्तान बताया। 'ईश्वर सबका पिता है, अतः सभी मनुष्य बन्धु है, सबमें विद्यमान सार्विक दैवी तत्व एकत्व का आधार और प्रेम तथा सहयोग का सार्वभौम सूत्र है।' अपने ईश्वरवादी विचारों के आधार पर स्त्रियों के उत्थान के सन्दर्भ में भी रानडे ने विशिष्ट योगदान दिया। वे बाल-विवाह, बहु-विवाह के विरुद्ध थे और विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा के प्रबल समर्थक। उन्होंने बतलाया कि 'वैदिक युग में नारी स्वतन्त्र एवं गरिमावान थी। वे कवि थीं, दार्शनिक थीं, मनीषी थीं, मन्त्रों की रचयिता थीं, उन्होंने ग्रन्थ लिखे और पुरुषों के साथ समानता के आधार पर शास्त्रार्थ भी किये।'[३] यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक तथा पराशर स्मृति आदि के आधार पर रानडे ने प्राचीन काल में विधवा पुनर्विवाह के प्रचलन का साक्ष्य प्रस्तुत किया।[४]

१८८० ई. में रानडे नैतिक पुनरुत्थान की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होते गये। अब उन्होंने हिन्दुत्व के धार्मिक मूल की खोज पर अधिकाधिक ध्यान देना आरम्भ किया। १८८४ में 'इलोक्यूशन सोसाइटी' के एक वक्तव्य में उन्होंने हिन्दुत्व के सुदूर अतीत में खगोल विद्या व दर्शन के विकास का विवरण प्रस्तुत किया। हिन्दू धर्म की प्रशंसा करते हुए उन्होंने अतीत के प्रति सम्मान व्यक्त करने का आग्रह किया।[५] इससे ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रार्थना-समाज

---

१. सी.एच. हेमशठ, इण्डियन नेशनलिज्म एण्ड हिन्दू सोशल रिफार्म, पृ.१८७
२. वही, पृ.१८३
३. रिलीजस ऐण्ड सोशल रिफार्म, पृ.९६
४. आर.एस.आर., पृ. ५७, ८५
५. मराठा, १ जून १८८४, पृ.४

से उनका मोह भंग हो रहा था। 'मराठा'[१] को इस बात पर आश्चर्य था कि, प्रार्थना-समाज पर ईसाइयत के प्रबल प्रभाव के बावजूद, रानडे ईसाई धर्म के तीक्ष्ण आलोचक कैसे बन गये। रानडे के प्रवचन के एक माह बाद 'केसरी' ने लिखा 'रानडे इज कनवर्टेड' अर्थात् वे प्रार्थना समाज को छोड़कर पुरातनपंथी हिन्दू धर्म में लौट रहे थे, ताकि सार्वजनिक जीवन को हिन्दू धर्मपरायणता से ओतप्रोत कर सकें।[२] यह आकलन सही नहीं था क्योंकि रानडे ने संशोधित ईश्वरवाद का कभी भी त्याग नहीं किया। वे केवल पुरातनपंथी समुदाय से संवाद की स्थिति बना रहे थे-जिनकी दृष्टि में वे वेदों तथा धर्मशास्त्रों की सत्ता या प्रामाणिकता को नकारने वाले 'नास्तिक' थे। धार्मिक-चेतना पर विशेष जोर देने में इस आरोप का खण्डन करने की भावना का भी हाथ था। लोकमान्य तिलक जैसे दक्खन एजूकेशन सोसाइटी के युवा सदस्य उनके आध्यात्मिक उत्साह (फरवर) को चुनौती देते थे।

जीवन के अंतिम दशक में परिवर्तन की धीमी पड़ती गति के प्रति वे अत्यंत चिन्तित थे। उनकी इस चिन्ता की झलक उनके १८९२, १८९३ के भाषणों में मिलती है जिनमें उन्होंने सुधारकों को उत्साह, धैर्य तथा सहनशीलता से काम लेने को कहा। बदलती हुई निराशाजनक स्थिति में नैतिक तथा आध्यात्मिक तत्वों के संपोषण पर अब वे विशेष जोर देने लगे। रानडे के अनुसार मानव के तीन गुण थे-आस्था, विवेक तथा नैतिकता। मानव को वे इनके बीच होने वाली अंतः क्रिया द्वारा निर्मित मानते थे। 'नैतिकतावाद द्वारा शोधित बुद्धिवादी, प्रत्यक्षवाद अथवा वस्तुनिष्ठावाद द्वारा शोधित नैतिकतावादी और बुद्धिवाद अथवा हेतुवाद द्वारा शोधित प्रत्यक्षवादी कहलाने वाले रानडे का विश्वास'[३] पिछली शताब्दी के नवें दशक में इस बात में बढ़ता

---

१. वही, १७ मई, १८८५

२. केसरी, ६ जून १८८५

३. एस.एन. झा, माडर्न इण्डियन पॉलीटिकल थॉट, पृ.५८

गया कि समाजसुधार के लिये व्यक्ति का आन्तरिक सुधार आवश्यक है। जैसे-जैसे हिन्दू धर्म के सामाजिक बन्धनों को शिथिल करते हुए परम्परागत वैयक्तिक अनुशासन की ओर उनका झुकाव बढ़ता गया, वैसे-वैसे उनका यह विश्वास भी प्रबल होता गया कि 'सुधारकों की नैतिक निर्बलता ही उनकी धीमी प्रगति के लिए उत्तरदायी' थी। उनकी मान्यता थी कि 'सुधारकों के समक्ष वास्तविक अवरोध समाज की शक्ति नहीं थी वरन् उनके अपने अन्दर' था। उन्हें स्वयं 'अपने में, हृदय, मस्तिष्क और आत्मा में सुधार करना था, अपने पूर्वाग्रहों को दूर करना था, अपनी निर्बलताओं पर विजय पानी थी, वास्तव में अपने-चरित्र का पुनर्निर्माण करना था ताकि वे युग की चेतना से सामंजस्य स्थापित कर सकें।'[१] १८९४ में प्रार्थना समाज में तेलंग के विषय में बोलते हुये उन्होंने 'कर्त्तव्यपरायणता तथा आत्मालोचन की तीव्र आवश्यकता' व्यक्त की। सुधारकों में विरोध के कारण व्याप्त निराशा के सन्दर्भ में उन्होंने कहा कि–'हमारी कठिनाइयाँ हमारे अन्दर हैं, हमारी निष्क्रियता में, हमारी निर्बलताओं में, कठिन परिश्रम के लिए हमारी शारीरिक अयोग्यता में, महान लक्ष्यों की प्राप्ति के निमित्त लम्बे समय तक परिश्रम के प्रति हमारी अरुचि में है। हमें मनुष्य बनना है, निर्भीक, निष्ठावान, शुद्धाचारवादी मनुष्य, जो अधिकार के लिये लड़ता है, जो न उदासीन हो न अति आशावादी, विश्वस्त हो परन्तु गर्वित नहीं, गम्भीर हो किन्तु अवसादग्रस्त नहीं।'[२]

उन्नीसवीं शताब्दी के समापन वर्षों में महामारी फैलने से जब सुधार संगठनों का कार्य ढीला पड़ा ('मराठा', ३० अप्रैल १८९९) उस समय भी रानडे समाज-सुधारकों को अनवरत प्रोत्साहित करते रहे यद्यपि, धार्मिक मतवाद (डॉग्मा) के विरुद्ध संघर्ष से श्रान्त-कलान्त होकर, वे नेतृत्व त्यागने

---

१. मिशसेलेनियस राइटिंग्स, पृ.११०-११; अर्थात् वे मानते थे कि आंतरिक शक्ति से ही बाह्य जगत पर प्रबल प्रभाव डाला जा सकता है।

२. २४ जून १८९९, गोखले पेपर्स ९, ४४३/२१

की मनःस्थिति में थे। जून १८९९ में गोखले को प्रेषित पत्र में उन्होंने लिखा कि, 'धार्मिक सिद्धान्त बहुसंख्यक जनों के नैतिक आचरण में सुधार लाने में असमर्थ हो चला' था। परन्तु, उससे निराश न होकर, उन्होंने 'बौद्धिक शुद्धाचरण, उत्तप्त शुद्धाचरण का आह्वान' किया 'जो समस्त अशुद्धियों को राख कर दे।' इसके साथ ही उन्होंने 'अडिग–अविचल विश्वासों की आवश्यकता' पर जोर दिया।'[१]

रानडे आशावादी थे और, 'विशुद्ध धर्म तथा ईश्वरीय शक्ति के बल पर, देश के उज्ज्वल भविष्य के प्रति पूर्ण आशान्वित थे।' १८९६ में उन्होंने कहा था कि, 'उन्मुक्त पौरुष (मैनहुड), उत्फुल्ल या उल्लसित आशा, कर्त्तव्य उन्मुख आस्था, सबके प्रति न्याय भावना, स्वच्छ निरभ्र बुद्धि और पूर्णतया परिष्कृत शक्तियों और, अन्त में, समस्त परिसीमाओं से मुक्ति के साथ, पुनरुज्जीवित भारत विश्व के राष्ट्रों के बीच अपना समुपयुक्त स्थान ग्रहण करेगा और स्थिति का तथा अपने भाग्य का स्वयं स्वामी बनेगा।'[२] 'इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उच्च विचारों, पारस्परिक सहानुभूति तथा सहयोग, पूर्ण सहिष्णुता, राजनीति में व्याप्त व्याधियों की सही समझ और इसके समाधान के लिये समुचित उपाय करने की सच्ची इच्छा की आवश्यकता होती है।' अतः उन्होंने देशवासियों का आह्वान किया कि 'विभिन्न क्षेत्रों में अपने कल्याण के लिये स्वयं प्रयत्नशील हों।'[३] इसके पहले १८९२ में राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन के छठें अधिवेशन में उन्होंने कहा था कि 'जीवन में हमारा स्थान (स्टेशन), हमारे कर्त्तव्य और कर्म की सीमायें निश्चित रूप से (अधिकांश जनों के लिये) निर्धारित होती हैं फिर भी कर्म की स्वतंत्रता के लिये पर्याप्त सम्भावना रहती है; परन्तु हम स्वयं ही इस सम्भावना को

---

१. वही.
२. गोखले द्वारा १९०५ में कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उद्धृत
३. आर.एस.आर. पुस्तक का, पृ.१३३–४

संकुचित कर देते हैं तथा स्वयं को बन्धनों में जकड़ लेते हैं।' इस संभावना के विस्तार तथा जंजीरों को ढीला करने के लिए रानडे 'स्वप्रयास में विश्वास' करते थे।[१]

उनकी आशावादिता भारत राष्ट्र के प्राचीन गौरवमय इतिहास और उसके अस्तित्व की निरंतरता और अक्षुण्णता पर आधारित थी। वे मानते थे कि 'तमाम विसंगतियों के बावजूद, इस देश के वासी संकटों से सुरक्षित रहे हैं, उन्हें ईश्वर का आशीष प्राप्त है, मानों उन्हें कोई विशेष ध्येय सौंपा गया हो।'[२] १८९३ में रा.सा. सम्मेलन के सातवें अधिवेशन (लाहौर) में उन्होंने अपने 'धर्ममत के दो निर्विवाद अनुच्छेदों' की घोषणा की–'हमारा देश ही सच्चा अभिलषित देश है। हमारी यह जाति ध्येय विशेष की पूर्ति के निमित्त ईश्वर द्वारा चुनी हुई जाति है।'[३] हिन्दू जाति को रानडे 'धर्म की निरंतरता, परम्पराओं, साहित्य, दर्शन, जीवन–शैली आदि की प्रतिनिधि' तथा 'दैवी विधान के एक उच्च ध्येय के दृढ़ अनुशासन के अधीन' मानते थे।[४] उन्हें इस बात पर गर्व था कि, 'हमारे पूर्वजों ने जावा, मंगोलिया तथा अन्य देशों में अपने साहित्य, दर्शन तथा विज्ञान का सन्देश पहुँचाया' था।[५] अस्तु भारत के इतिहास में वे दैवी (ईश्वरीय) प्रयोजन' देखते थे और 'इसी का परिणाम था–भारत का नैरन्तर्य और अक्षुण्णता।'[६] यह उग्र राष्ट्रवाद नहीं था, अपितु 'स्वदेश के प्रति एक महान आत्मा के विश्वास की अभिव्यक्ति' थी। भारत के दैवी प्रयोजन में विश्वास के कारण ही वे सुधार कार्यों के प्रति विरोध, जातिगत पूर्वाग्रहों तथा उतावले

१. रानडे, मिशलेनियस राइटिंग्स, पृ.२३१

२. वही, पृ.१४५

३. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ.१४५

४. वही, पृ.१४५, १४९

५. वही, पृ.१४८

६. वही, पृ.१२५, १४५, १४९

सहयोगियों के विरोध का सामना करते रहे। देश के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आस्था व्यक्त कर तथा विश्व के उन्नत राष्ट्रों के बीच उसके सम्मानित समुचित स्थान पाने की दृढ़ आशा बँधा कर, रानडे ने घोर निराशामय वातावरण को ध्वस्त करने में और राष्ट्रीय आत्मविश्वास की स्थापना में उल्लेखनीय योगदान दिया। अपने बुद्धिमतापूर्ण, विविध फलदायक कार्यकलापों के द्वारा ईश्वरवादी रानडे ने समाजसुधार तथा स्वतंत्रता के लिये एक बृहद् विशाल, सुदृढ़ आधारशिला की स्थापना की।[१] एक राष्ट्रप्रेमी होने के साथ ही रानडे विशाल हृदय एवं विशद् उन्मुक्त मानस से सम्पन्न पुरुष थे जिनमें विश्वचेतना सहज रूप से विकसित हुई। इसी कारण वे कह सके कि 'एक बन्द पुस्तक होने के बजाय हमारा देश अब राष्ट्रों के समुदाय का अंग है जो उनकी समृद्धि या दुःख में आनन्द या विषाद अनुभव करता है।' उन्होंने मानव मात्र की समता पर जोर दिया और घोषित किया कि 'हममें मनुष्य-मनुष्य के बीच अनिवार्य समता की सामान्य मान्यता की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति होनी चाहिए।' अस्तु, रानडे की प्रवृत्ति मानव को विभक्त करने वाली प्रवृत्तियों के बजाय एकीकृत करने वाली प्रवृत्तियों पर जोर देने की थी। उन्होंने उस 'सर्वमान्य मानवीय प्रवृत्ति' को इंगित किया जिसमें 'हम सभी भागीदार' हैं। विभिन्न सम्मेलनों में उन्होंने इसके व्यावहारिक निहितार्थों को इंगित किया।

राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन संबंधी रानडे की दृष्टि संकीर्ण-संकुचित नहीं थी बल्कि उसका शनैः-शनैः विस्तार हुआ। यद्यपि उनके प्रयास प्रधान रूप से उनकी अपनी जाति अथवा अपने समुदाय के विकारों-व्याधियों एवं दुर्भाग्य को दूर करने की ओर ही उन्मुख थे, तथापि शीघ्र ही उन्हें भली-भाँति बोध हो गया कि भारतीय राष्ट्रीयता के दूसरे महान घटक (मुस्लिम समुदाय) का भाग्य भी अनिवार्य रूप से उनसे जुड़ा हुआ था। समाज-सुधार के संदर्भ में भी रानडे ने दोनों के लिए संयुक्त मंच पर विचार किया। रानडे ने कहा कि,

---

१. जेम्स केलॉक, पृ.१९५

'दोनों समुदायों के समक्ष समान समस्यायें हैं। स्त्री-शिक्षा के पिछड़ेपन में, अपने धर्म की सीमाओं को लाँघने में, मद्य-निषेध के संदर्भ में, जातियों व मतों के बीच 'अपवित्रता' (के प्रयोग) में, बेमेल और बहुविवाह के संदर्भ में, अनेक कुप्रथाओं-कुरीतियों में, विभिन्न अवसरों पर अपव्यय की आकांक्षा में, विनियमित परोपकारिता में, जनभावना के क्षरण में, दोनों समुदाय समान रूप से पापी या अपराधी हैं और इस कारण उनमें समान ढर्रे या आदर्शों पर उन्नति का समान आधार विद्यमान है।' लखनऊ में रा. सा. स. के अधिवेशन में उन्होंने कहा 'हिन्दुओं या मुसलमानों की ओर से अपने हितों को भिन्न या विशिष्ट मानने के हर प्रयास का और, दोनों ही समुदायों या सम्प्रदायों द्वारा अपने-अपने बीच पृथक पंथों अथवा मतों व हितों के साधन एवं संवृद्धि के प्रत्येक प्रयास का, और परस्पर जाति व सम्प्रदायगत घृणा द्वारा लगे हुए घावों को भरने का प्रयास न करने का, हर ओर से खण्डन होना चाहिए।' रानडे का मत था कि अपकर्ष और भ्रष्टाचार से पीड़ित होने के बजाय देशवासियों को मुस्लिम शासन से उस समय शक्ति प्राप्त हुई जब ऐसे मुस्लिम और हिन्दू राजनेताओं की बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह से शासन चलाया जाता था जो सहिष्णुता और समानता की नीति पर देशवासियों के हितसाधन या भलाई के इच्छुक थे। अशोक के बाद के प्राचीन हिन्दू राजवंशों में एकता से उत्पन्न शक्ति का अभाव था। इसी कारण वे मुस्लिम आक्रान्ताओं के सामने इतने शीघ्र झुक गये थे।' 'इसके बाद', उन्होंने बताया कि किस प्रकार 'मुस्लिम शासन में सैकड़ों तरीकों से हिन्दुओं की रुचि तथा आचार परिष्कृत हुए।' आगे उन्होंने कहा कि, 'सबसे स्थायी बात यह हुई कि धर्म तथा चिन्तन को एक उच्चतर आयाम प्राप्त हुआ।' निष्कर्षतः उनका कहना था कि, 'यदि प्राचीनकाल के कुछ सबक हैं तो यह हैं कि इस देश में तब तक कोई प्रगति नहीं हो सकती जब तक कि हिन्दू और मुसलमान कन्धे से कन्धा मिलाकर नहीं चलते और ऐसे लोगों का अनुसरण नहीं करते जो अकबर के मुख्य परामर्शदाता और सहयोगी या

अनुयायी थे और उन गलतियों से बचें जो उनके परपोते औरंगजेब ने की थीं।' उनको भय था कि, 'हम अकबर द्वारा प्रस्तुत किये गये उत्कृष्ट उदाहरण से विचलित हो गए हैं। विशेष रूप से हम विचार करें कि जिन व्याधियों से हम ग्रस्त एवं त्रस्त हैं, उनके लिए हम स्वयं दोषी हैं और उनका निराकरण बड़े अंशों में स्वयं हम ही कर सकते हैं।' अन्धविश्वास, कट्टरपंथिता तथा असहिष्णुता के प्रतिकार की इस प्रवृत्ति ने रानडे को जातिवाद तथा धार्मिक संकीर्णता से मुक्त रखा।

इस संबंध में विद्यमान पीढ़ी के लिए निर्धारित कार्य वे 'उच्च आदर्शों के अनुसरण, परस्पर सहानुभूति एवं सहयोग की भावना के विकास, सहिष्णुता की भावना के पूर्ण विकास, राष्ट्र जिन व्याधियों से त्रस्त है उनके समुचित बोध और समुपयुक्त उपाय अपनाने की सच्ची इच्छा' को मानते थे। इसका लक्ष्य वे सत्ता अथवा शक्ति या सम्पत्ति के रूप में लाभ अर्जित करना नहीं मानते थे, यह यद्यपि लक्ष्यप्राप्ति का सहज परिणाम हो सकता था। वास्तविक लक्ष्य था हृदय व मानस का प्रसरण या विस्तार और उन्नयन, जो हमें अपेक्षाकृत अधिक सबल, सशक्त, शुद्धतर और सत्यनिष्ठ मनुष्य बनाने वाला हो। उनकी सम्मति में, 'यह उतना महत्वपूर्ण नहीं था कि हम इस लक्ष्य की प्राप्ति में सफल होते हैं या नहीं, जितना यह कि इस दिशा में हम सतत प्रयासरत रहें।' उनके इस सुस्पष्ट संदेश को हम किस प्रकार चरितार्थ करते हैं यह इसी पर निर्भर करता है कि हमारा वर्तमान कैसे एक समुज्ज्वल भविष्य की ओर अग्रसर होगा जिसका रानडे जैसे महापुरुषों ने स्वप्न देखा था और उसके लिये नई पीढ़ी का आह्वान किया था, मार्गदर्शन किया था, उद्बोधन किया था।



लेखक परिचय

शैलेन्द्र प्रसाद पांथरी

जन्म : मार्च, १९३९

१९६४ से १९९९ तक महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ में अध्यापन। १९९९ में इतिहास विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के रूप में पदनिवृत्त। सेवाकाल में कतिपय पुस्तकों का लेखन। अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् भी पठन-पाठन एवं लेखन जारी।

नारायण विश्वनाथ सप्रे

जन्म : १२ अक्टूबर, १९३३

मातृभाषा : मराठी

सप्रेजी मूलतः हास्य-व्यंग्य लेखक के रूप में ख्यात हैं। हास्य-व्यंग्य की अनेक रचनाएँ 'आज', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'कादम्बिनी' आदि में प्रकाशित होती रही हैं। आकाशवाणी पर उनके एकांकी नाटक प्रसारित होते रहते हैं।

प्रकाशित रचनाएँ : खिक्-खिक्, स्वर्ग में परिवार नियोजन (कन्नड़ में भी अनूदित), नारदजी भारत में, खाडिलकर और आधुनिक पत्रकारिता।

अनुवाद : कश्मीरी गुलाब (ना०सी० फड़के), जूही (मालतीबाई बेडेकर), सुनहरे पंख (अनंत काणेकर), हिन्दी ज्ञानेश्वरी।



मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेशन

वाराणसी

दूरभाष : (0542)2352431